वेदभारती

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीरकुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०

मन्दिर

...नुसन्धानशाला

(पंजयित)

आर— २, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर-४

[स्नातककक्षोपयोगिसंकलनम्]

ग्रंथ सम्पादकः

डा० सुधीरकुमारगुप्तः, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी
जयपुरे राजस्थानविश्वविद्यालस्य
संस्कृतविभागे प्रवाचकः (रीडरः)
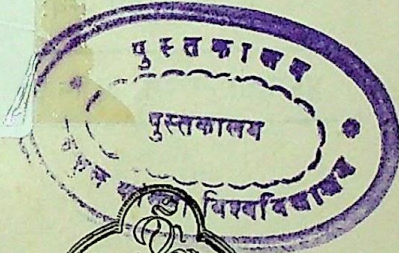
भारती मन्दिरम्

अनुसन्धानशाला

आर— २, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुरम्-४

प्रकाशकः
श्री प्रमोदकुमारगुप्तः
मुद्रण-प्रकाशनाध्यक्षः
भारतीमन्दिरम् अनुसंधानशाला,
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुरम् - ४।

मूल्यम्—४-०० (साधारणो बन्धः)
४-८० (पक्वो बन्धः)

प्रथमं संस्करणम्, १९६८ ई०

मुद्रकौ
बैशाली प्रेसः— पृष्ठानि १ अ-५२ अ।
अजन्ता प्रिण्टर्सः,
जयपुरम् - ३ - शेषं सर्वम्

वेदभारती

विषय-सूची

[कोष्ठकों में सर्वत्र संदर्भसंख्या दी गई है ।]

विषय — पृष्ठ

पं० आचार्य [illegible]

कृपया इस रचना पर

अपनी सम्मति

अवश्य

भेजें

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

वेदभारती

उपोद्घात

१. वेद भारत की विशेष रूप से अमूल्य निधि है। भारतीय जीवन के बहुसंख्यक जनों के जीवन पर मन्त्रों और उन के चारों ओर निर्मित साहित्य की अमिट छाप है। मन्त्रों के भावों को समझाने, रोचक बनाने और जीवन का अक्षुण्ण अंग बनाने के लिए ही प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रों और उपनिषदों की रचना की। ब्राह्मणों में यज्ञ और यज्ञों के दर्शन को रोचक बनाने के लिए कतिपय आख्यानों की भी सृष्टि की गई है। उपनिषदों की शैली तो बड़ी रोचक है, उन में आख्यान अंश भले ही कम हों।

२. अतः प्राचीन काल से वेद का अध्ययन और अध्यापन भारत के कोने-कोने में स्थान पाता रहा है। आज एम. ए. में तो वेद के एक वा अधिक पत्र होते ही हैं, स्नातकोय कक्षाओं में भी इस को स्थान मिला है। तथापि साधारण स्नातकीय कक्षाओं के लिए उपयुक्त ऐसे संकलन का सर्वथा अभाव था, जो हिन्दी के माध्यम से उच्च स्तरीय अध्ययन में सहायक सामग्री से युक्त वैदिक साहित्य के विविध रूपों का आस्वादन करा सके और विद्यार्थियों में वेदाध्ययन के लिए कुछ रुचि उत्पन्न कर सके। इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त इस संकलन की रचना की गई है।

३. इस संकलन की अनुभूति दिल्ली विश्वविद्यालय के बी. ए. पास के १९६९ के प्रथम पत्र के पाठ्यक्रम से ली गई है। यहां

पर उस पाठ्यक्रम के साथ-साथ कुछ अन्य पाठ भी दिए गए हैं, जो उस पाठ्यक्रम में निर्धारित अंशों के पूर्व भाग या उत्तरार्द्ध के रूप में है। इन का विवरण नीचे दिया जा रहा है। सूत्रग्रन्थों से भी कुछ अंश इस में संकलित करने अभीष्ट थे। इस के लिए पारस्करीयोपनयनसूत्र सब से अधिक उपयुक्त मालूम पड़े। उन का लेखक का अलग से संस्करण उपलब्ध है। अतः उन्हें यहां नहीं रक्खा गया है।

४. इस संकलन में तीन ही वेदमन्त्र—गायत्री मन्त्र, विश्वानि देव और तच्चक्षर रक्खे गए हैं। इन में शुभ बुद्धि और कर्मों तथा भद्र की कामना के साथ उत्साह-पूर्वक सौ वर्ष का जीवन बिताने की कामना व्यक्त की गई है। इन तीनों मन्त्रों में लौकिक जीवन में सफलता की कुंजी और परलोक का परिष्कार निहित है। इन की भाषा परम सरल है।

५. ब्राह्मणों से दो आख्यानों के अंश लिए गए हैं—ऐतरेय ब्राह्मण से शुनःशेप के आख्यान के ३३ वें अध्याय के दूसरे और तीसरे खण्ड लिए गए हैं। इन दोनों को अलग-अलग पाठों में रक्खा गया है। दिल्ली के पाठ्यक्रम की दृष्टि में पहले तीसरे खण्ड को और उस के बाद दूसरे खण्ड को रक्खा गया है। इन के बीच में मनु और मत्स्य के जलप्लावन की विश्वप्रसिद्ध कथा को दो भागों में बांट कर प्रस्तुत किया गया है।

६. तैत्तिरीयोपनिषद् से तप और आचार्य के अनुशासन से सम्बद्ध प्रकरण लिए गए हैं। काण्व यजुर्वेद संहिता का ईशोपनिषद् के रूप में प्रख्यात अन्तिम अध्याय अविकल रक्खा गया है। यह उपनिषद् मन्त्रों, शाखाओं और उपनिषदों का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि इस के अनेकों संस्करण उपलब्ध हैं, तथापि अन्य अंशों के साथ उपर्युक्त विशेषता के कारण इसे यहां संकलित किया गया है।

७. समस्त संकलन को पाठों में बांट कर उन को उपयुक्त शीर्षक दे दिए गए हैं। ये शीर्षक सरल, संक्षिप्त और पाठ के विषय के परिचायक हैं। प्रत्येक पाठ के पहले उपयुक्त संक्षिप्त भूमिका दी गई है। मूल पाठ को मोटे अक्षरों में, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद को उस से कम मोटे छापे में और टिप्पणियों तथा भाव को बारीक छापे में कराया गया है। भूमिका का छापा शेष भागों से भिन्न है। भिन्न-भिन्न कालों में लिखे जाने के कारण सटिप्पण हिन्दी अनुवाद और टीका में दो-चार स्थलों पर कुछ विचारभेद सा प्रतीत होगा। वह आपातिक है, मौलिक नहीं। संस्कृतटीका लिखते समय हिन्दी भाग प्रेस में था। अतः उन में समन्वय सम्भव न हो सका। ईशोपनिषद् के मन्त्र ३ में हिन्दी अनुवाद वाले पाठ को ही मूल और प्रामाणिक मानना उचित मालूम पड़ता है, क्योंकि यजुर्वेद में भी यही पाठ है, टीका वाला नहीं।

८. यद्यपि यहां संकलित सब अंशों पर सायण और शंकराचार्य आदि के भाष्य मिलते हैं, तथापि बी. ए. के साधारण विद्यार्थी के लिए वे अनेक बार कठिन हैं, अनेक बार अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं। अतः एक परिशिष्ट में समस्त ग्रन्थ के पाठों की सरल पदावली में लगभग प्रत्येक पद की व्याख्या करने वाली, भाव को स्पष्ट करने वाली, सरलता से बोधगम्य नूतन भावप्रकाशिका सुधीरिणी संस्कृतटीका भी दी गई है। इस टीका में मूल पदों को बहुशः बारीक अक्षरों में रख कर टीका के व्याख्यान से अलग दिखाया गया है। कुछ पाठों में यह सम्भव नहीं हो सका है। इस टीका में सामान्यतः व्याकरण और दर्शन के जटिल और अनावश्यक विवेचनों का परिहार किया गया है सामान्यतः इस में सन्धियों का भी परिहार किया गया है। फिर भी कुछ हो ही गई हैं। परन्तु वे सुगम ही हैं।

९. ग्रन्थ में टिप्पणियों में व्याख्यात पदों की अनुक्रमणिका भी दी गई है। विद्यार्थियों को अनुक्रमणिकाओं का प्रयोग समझ में आजाने पर ये उन के बड़े उपयोग की रहती हैं।

१०. संक्षेप में पुस्तक को पर्याप्त प्रामाणिक, उपयोगी और पाठ्यक्रम में निर्धारण के स्तर का बनाने का प्रयास किया गया है। यदि यह संकलन विद्यार्थियों को वेदाध्ययन में सहायक और रुचि उत्पन्न करने वाला हो सका और विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को अपने पाठ्यक्रम में रखने के लिए उपयुक्त मालूम पड़ा तो लेखक का परिश्रम सफल होगा और परमेश की परम अनुकम्पा होगी।

११. इस ग्रन्थ की रचना में मनु की कथा और तैत्तिरीयोपनिषद् के अंशों के अनुवाद, टिप्पणियां और भूमिकाएं लेखक के अपने पुराने ग्रन्थ 'गद्यपारिजातविवरण' से परिवर्धन और संशोधन के साथ अपनाए गए हैं। उस कृति में मूल पाठ नहीं छपा था। इन अंशों और शेष भाग की रचना में अनेकों ग्रन्थों से सहायता ली गई है। इन के लेखकों और प्रकाशकों का परम धन्यवाद है।

१२. १५-१-६८ को श्री र. र. दिवाकर के भाषण में सभापतिपद से भाषण देते हुए डा. महाजनी, उपकुलपति उदयपुर विश्वविद्यालय ने आचार्यानुशासन का उल्लेख करते हुए एक बहुत सुन्दर विचार दिया कि इस उपदेश का मूल लक्ष्य भावी नागरिकों में समाजसेवा के क्रियात्मक आदर्श को संक्रान्त करना है। आचार्य का अपने आदर्श और उदाहरण से उपदेश देना डा. महाजनी के विचार को पुष्ट करता है। आप के मत में इस उपदेश में 'कुशलान्न प्रमदितव्यम्' के 'कुशल' का भाव समाजसेवा है। आत्मोन्नति कर समाज और राष्ट्र की सेवा करना भारतीय संस्कृति का प्रमुख तत्त्व रहा है। यज्ञ और दान—दोनों की यही भावना है।

१३. ग्रन्थ के प्रारूपों के शोधन में दृष्टिदोष से अनेको भूल रह जानो स्वाभाविक हैं। मानव स्वभाववश और भी अन्य अशुद्धियां रही हो सकती हैं। विज्ञ पाठकों के उत्तरोत्तर परिष्कार के लिए सुझावों के लिए आभारी रहूँगा।

१४. मुद्रण में प्रयास करने पर भी प्रेस गुं के टाइप को नहीं जुटा सका। अतः एक स्थल पर थं थ के द्वारा इंगित कर शेष सर्वत्र ँ से इसे व्यक्त किया गया है।

१५. वैदिक व्याकरण लौकिक और बी. ए. से पूर्व पढ़ी गई व्याकरण से कई धाराओं में भिन्न है। वैदिक संदर्भों को समझने के लिए उस का कुछ परिचय आवश्यक है। इस ग्रन्थ में यह परिचय पदों पर टिप्पणी देते हुए ही दिया गया है, जिस से साधारण-से-साधारण पाठक भी उसे समझ सके और उसे बोझा न समझे। इस में भी व्याकरण की जटिल प्रक्रिया आदि का परिहार किया गया है। जो पाठक कुछ विस्तृत परन्तु संक्षिप्त रूप में वैदिक व्याकरण का परिचय करना चाहें, वे लेखक के वेदलावण्यम् या ऋक्सूक्तानि में एतद्विषयक परिशिष्ट की सहायता ले सकते हैं।

१६. भारती मन्दिर के अधिपतियों ने इस के मुद्रण और प्रकाशन की उचित व्यवस्था की है और अपनी अभिरुचि दिखाई है। उन को मेरी शुभ आशिषें हैं। परमपिता परमात्मा की महती अनुकम्पा से जीवन के तृतीय चरण की एक यह देन भी पूर्ण हुई, अतः उन का कोटिशः धन्यवाद है।

आर-२ विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर-४ — स. क. गुप्त, २४-१-६८

पाठक की टिप्पणियां

वेदभारती

१

वेदमन्त्राः

वेदपरिचय

१. भारतीय आर्यों की मूल धर्मपुस्तकें वेद कहलाती हैं। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। यह पद विद् धातु से बनता है। संस्कृत में विद् धातु के अर्थ 'जानना, विचार करना' प्राप्त करना और विद्यमान होना' हैं। वेद इन सब अर्थों को व्यक्त करता है। अतः हिन्दुओं का विचार है कि वेद में सब सत्य विद्याओं का मूल पाया जाता है। इन्हें सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने मानवों के कल्याण और मार्गनिर्देशन के लिए चार आदि ऋषियों द्वारा प्रकट किया। ये ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा थे जिन के माध्यम से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद व्यक्त हुए। इस प्रकार मूल वेद चार हैं। इन की कुछ शाखाएं भी हैं। वेदों को संहिता भी कहते हैं। वेदों की शाखाएं शाखासंहिता नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद की शाकल संहिता, यजुर्वेद की माध्यन्दिन वाजसनेयी संहिता, सामवेद की कौथुम संहिता और अथर्ववेद की शौनक संहिता मूल वेद मानी जाती हैं। शाखासंहिताओं में यजुर्वेद की तैत्तिरीय, कठ-कपिष्ठल, काठक और मैत्रायणी, सामवेद की जैमिनीय और अथर्ववेद की पैप्पलाद संहिताएं प्रसिद्ध हैं। इन शाखा-संहिताओं में मूल वेदों के मन्त्र ही कुछ पाठभेद, क्रमभेद और व्याख्या आदि के साथ संकलित किए गए हैं। वेदों के विषयों का व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में मिलता है। वेदों के धर्म के यज्ञ, संस्कार और व्यवहार आदि क्रियाकलापों का वर्णन एक विचित्र संक्षिप्त

शैली में सूत्रग्रन्थों में मिलता है। वेदों की रक्षा के लिये हिन्दुओं ने अनेकों उपाय किए जिन के कारण वे आज तक सुरक्षित चले आ रहे हैं और उन में किसी प्रकार का भी कोई विकार नहीं आया है। इन की सुरक्षा के लिए ही इन्हें गुरुपरम्परा से मुख से सुन कर याद किया जाता था। अतः इन्हें श्रुति कहते हैं।

२. आधुनिक विद्वान् हिन्दुओं के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं है। वे वेदों को ऋषियों की रचना मानते हैं, जो ईसा से १५०० वर्ष पूर्व निर्मित हो चुके थे। कुछ भारतीय विद्वान् वेदों की रचनातिथि को बहुत प्राचीन मानते हैं। इतने लम्बे काल में मौखिक याद किये जाने के कारण इन में कुछ विकार आ जाने स्वाभाविक हैं। यही नहीं, एक ही वेदसंहिता में भी भाषा और विषय के भेद से भिन्न-भिन्न कालों के रचना-स्तर भी दिखाए गए हैं।

मन्त्र, त्रयी और अथर्ववेद

३. वेदों के वाक्य मन्त्र कहलाते हैं। ये पद्यात्मक भी हो सकते हैं, और गद्यात्मक भी। स्तुतिप्रधान मन्त्रों को ऋक् या ऋचा और कर्म के विधायक मन्त्रों को यजुः कहते हैं। जो मन्त्र गाए जाते है उन्हें साम कहते हैं। ऋग्वेद में समस्त मन्त्र पद्यात्मक हैं और ऋचा कहलाते हैं। यजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों हैं। इस के मन्त्र यजुः कहलाते हैं। सामवेद के सब मन्त्र गाये जाते हैं। अथर्ववेद में भी गद्य-पद्यात्मक दोनों प्रकार के मन्त्र मिलते हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों में ऋचाओं की संख्या पर्याप्त है। वेदमन्त्रों के इन तीन प्रकारों के कारण इन्हें त्रयी भी कहा जाता है। आजकल अथर्ववेद को पीछे की रचना माना जाता है, और इसे जादू-टोने और आयुर्वेद का ग्रन्थ कहा जाता है। वैसे इस में उच्च कोटि का दर्शन भी पुष्कल परिमाण में मिलता है।

सामवेद के मन्त्र लगभग सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं। केवल ७५ मन्त्र नए हैं। इन का उपयोग सोमयाग में होता है। इन्हें 'सामन्' कहते हैं।

यजुर्वेद और यज्ञ

४. यजुर्वेद में अनेकों प्रकार के यज्ञों का वर्णन और विधान है। यह अग्निहोत्र से आरम्भ होता है. जिस में अग्नि जला कर घी आदि पदार्थ डाले जाते हैं। अन्य यज्ञ इसी का विकसित और परिवर्धित रूप हैं। इन में अश्वमेध और पुरुषमेध के नाम विशिष्ट हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन में पशुओं और मनुष्यों की आहुति या बलि दी जाती थी, परन्तु अन्य इस से सहमत नहीं हैं। यज्ञ के समय सांसारिक सुखों की प्राप्ति, दुःखों और पापों से निवृत्ति आदि की प्रार्थनाएं भी की जाती थीं। इस वेद में ऐसी प्रार्थनाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इस वेद के भाग अध्याय कहलाते हैं। प्रत्येक अध्याय में मन्त्र संकलित हैं। कुल अध्याय चालीस हैं। अध्यायों में अधिक से अधिक ११७ और कम से कम १३ मन्त्र मिलते हैं। अन्तिम अध्याय कुछ अलग से भेद से ईशोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है और एक ईश्वर की सत्ता का वर्णन करता है। शेष अध्यायों की प्रार्थनाएं अनेकों देवताओं को सम्बोधित की गई हैं। इन देवताओं के नामों को कुछ विद्वान् ईश्वर के ही विभिन्न नाम मानते हैं। ये सब मन्त्र यज्ञों से सम्बन्धित हैं।

ऋग्वेद

५, इन सब वेदों का आधार ऋग्वेद है, क्यों कि उन में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। ऋग्वेद ही संसार के साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ भी है। इस के दस भाग हैं, जो मण्डल कहलाते हैं। प्रत्येक मण्डल में कुछ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त

में कुछ मन्त्र संकलित हैं। इन सूक्तों में कम से कम एक और अधिक से अधिक ५८ मन्त्र पाए जाते हैं। प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि, एक वा अधिक देवता और एक छन्द होता है। ऋषि मन्त्र का प्रकाशक या रचयिता होता है। मन्त्र में जिस नाम से देवता की स्तुति की जाती है या विषय का प्रतिपादन होता है, वह नाम मन्त्र का देवता होता है और जिस छन्द में मन्त्र लिखा होता है। वह मन्त्र का छन्द कहलाता है। इस वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत्, सविता, उषा, सूर्य और सोम आदि देवी-देवताओं की स्तुति और उन से प्रार्थना के मन्त्र संकलित किये गये हैं। इन मन्त्रों में भौतिक सुखों की कामना की गई है और सर्वत्र आशावाद ही भरा पड़ा है। निराशा का वहां लेश भी नहीं है। यज्ञ का इस में भी प्राधान्य है। यज्ञ के मुख्य लक्ष्य परोपकार और आत्मकल्याण हैं। वहां दान, सत्य और अहिंसा की भावना प्रचुर हैं, परन्तु शत्रु के नाश में कोई संकोच नहीं है। राक्षसों की कल्पना भी की गई है। जो अनेक बार मनुष्य के मार्ग में आने वाली बाधाएं, दुःख और रोग आदि ही हैं। देवता राक्षसों को मारने वाले बताए गए हैं। देवों के साथ स्तोता मैत्री की भावना रखता है। उन में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है।

६. इस संकलन में तीन मन्त्रों का संग्रह है, उन में से पहला गायत्री मन्त्र है, दूसरे में कल्याण की और तीसरे में दीर्घायु की कामना है।

गायत्रीमन्त्र

भूमिका

७. वेद का प्रमुख लक्ष्य मानव के ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन में सुख की सृष्टि और उस के लिये भावना

उत्पन्न करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति उत्साहपूर्ण और आशा पर निर्भर जीवन से हो सकती है। जब तक मनुष्य की बुद्धि निर्मल है, वह अच्छे कर्म करेगा और उत्साह से जीवन बितायगा। इसी लिए वैदिक भाषा में बुद्धि और कर्म दोनों का वाचक एक ही पद भी मिलता है—'धी'। गायत्री मन्त्र में परमात्मा से इसी 'धी'—बुद्धि और कर्म की शुद्धि की प्रार्थना की गई है।

८. यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में मिलता है। ऋषि गाथिन विश्वामित्र, देवता सविता और छन्द गायत्री हैं। देवता के नाम पर इसे सावित्री, छन्द के नाम पर गायत्री और जीवन का मूलमन्त्र होने से अध्यापन के प्रारम्भ में गुरु द्वारा सब से पहले पढ़ाए जाने से गुरुमन्त्र कहते हैं। भारतीयों में इस मन्त्र से बढ़ कर और किसी मन्त्र का महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि प्रातः और सायं इस का जप करे और अपने आप को इस के अनुरूप ढाले। इस के जप से शरीर में शक्ति-वीर्य की वृद्धि और बुद्धि का विकास होता माना गया है। अतः विद्यार्थियों को स्वप्नदोष आदि होने पर मनु ने मनुस्मृति में इस का जप करने का विधान किया है।

९. मन्त्र—

[गाथिनो विश्वामित्रः । सविता । गायत्री]

तत् सवितुर् वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

[ऋग्वेद ३।६२।१० सामवेद १४६२; यजुर्वेद ३।३५; २२।६; ३०।२; ३६।३.]

१०. अर्थ-[हम] (सवितुः) [जगदुत्पादक] सवितृ [नामक परमात्मा] (देवस्य) देव के (तत्) उस (वरेण्यम्) श्रेष्ठ [या-चुनने योग्य, कमनीय] (भर्गः) तेज का (धीमहि) चिन्तन [-ध्यान] करते हैं, (यः) जो [तेज या परमात्मा] (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (प्रचोदयात्) उत्तम प्रेरणा दे [-अच्छे मार्ग पर चलाए]।

११. **टिप्पणियां**-सामान्यतः इस मन्त्र से पूर्व तीन शब्द और जोड़े जाते हैं—भूर्, भुवः और स्वः। इन्हें व्याहृति कहते हैं। इन के अर्थ (१) सत्, चित् और आनन्द (२) प्राण का भी प्राण, सब दुःखों से छुड़ाने वाला और स्वयं सुखस्वरूप तथा दूसरों को सब सुख प्राप्त कराने वाला (३) प्राणाधार, दुःख निवारक और जगद्व्यापक दिए गए हैं। ओ३म् सब मन्त्रों के पहले बोला जाता है। यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ मूल नाम माना गया है। परमात्मा अव्यय है और तीनों लिंगों और कालों आदि में एक रूप रहता है। ओ३म् भी अव्यय और सदा एक रूप रहने वाला है। इन चार पदों के साथ मिल कर गायत्री मन्त्र विशेष प्रभावशाली हो जाता है। यहां इन तीनों पदों को नहीं पढ़ा गया है। भूर्, भुवः और स्वः भी अव्यय हैं। **तत्**—यह तद् से नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन का रूप है और वरेण्यम् का विशेषण है। नासदीय सूक्त में 'तत् एक' परमात्मा का नाम है। उसी परमात्मा के नाम 'तत्' का भी यह द्योतक हो सकता है। दयानन्द सरस्वती ऐसा ही मानते हैं। **सवितुः**—सवितृ से षष्ठी एक वचन पुल्लिग का रूप है। सामान्यतः सवितृ 'सूर्य' का पर्याय है। सूर्य जड़ पदार्थ और पराश्रित है, उस में बुद्धि और कर्मों के शोधन का सामर्थ्य नहीं। इसी लिए दयानन्द सरस्वती ने सवितृ को √ सू से निष्पन्न करते हुए **परमात्मा** का वाचक माना है। ज्ञान का उत्पादक होने से 'गुरु' भी सवितृ है। **वरेण्यम्**—√ वृ+एन्य। द्वितीया एक वचन नपुंसक लिंग। **भर्गः**-√भर्ज्+असुन्। तेज या प्रजापति परमात्मा।

देवस्य—देव से षष्ठी एक वचन पुल्लिंग । देव शब्द √ दिव् से बनता है । इस धातु के दस अर्थ हैं—क्रीड़ा, जीतने की इच्छा, व्यवहार, द्युति (प्रकाश), स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति । अतः देव-पद चमकने वाला, स्तुतियोग्य, प्रकाशमान, सुखस्वरूप आदि भावों का वाचक है । सामान्यतः इस का अर्थ 'देवता'-शक्तिविशेष लिया जाता है । **धीमहि**—√ ध्यै से विधि लिङ् उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक रूप है । वेद में बहुधा संज्ञाओं और क्रियाओं के रूप लौकिक रूपों से भिन्न भी मिलते हैं । √ ध्यै–ध्यान करना । दयानन्द सरस्वती इसे √ धि धारण करना का रूप मानते प्रतीत होते हैं । **धियः**—धी से द्वितीया बहुवचन स्त्रीलिंग रूप है । वेद में यह कर्म और बुद्धि दोनों का नाम है । **यः**—यत् से पुल्लिंग प्रथमा एक वचन का रूप है । यत् और तत् सदा साथ रहते हैं । अतः यह 'तत्' का द्योतक प्रतीत होता है और नपुंसक लिंग में होना चाहिये था । वेद में बहुधा लिंगों और विभक्तियों के प्रयोग में लौकिक व्याकरण के नियमों से कुछ भिन्नता भी मिलती है । दयानन्द सरस्वती ने तत् और भर्गः का अर्थ परमात्मा का स्वरूप ले कर 'यः' को परमात्मा का वाचक माना है । यहां के अनुवाद की योजना अधिक सीधी मालूम पड़ती है । **प्रचोदयात्**—प्र+√चुद्+ विधि लिङ् प्रथम पुरुष एक वचन । √चुद् प्रेरित करना, लगाना । अतः अच्छी प्रकार—अच्छे मार्ग में प्रेरित करे—लगाए—चलाए ।

२. भद्रकामना—

भूमिका—

१२. दूसरा मन्त्र भी ऋग्वेद का है । यह यजुर्वेद में भी मिलता है । इस के ऋषि श्यावाश्व आत्रेय, देवता सविता और छन्द गायत्री हैं । अतः यह भी सावित्री और गायत्री मन्त्र है, परन्तु इन नामों से प्रख्यात नहीं है । ये नाम केवल गुरुमन्त्र के लिए ही विशेष रूप से प्रचलित हैं ।

१३. इस मन्त्र में सवितृ—परमात्मा से सब पापों–दुष्ट कर्मों को दूर कर के कल्याण प्रदान करने की कामना की गई है। दयानन्द सरस्वती को यह मंत्र इतना रुचिकर लगा है। कि उस ने अपने भाष्यों और ग्रन्थों के अध्यायों आदि के प्रारम्भ में मंगला-चरण के रूप में इसे बहुशः लिखा है।

१४. मन्त्र—[श्यावाश्व आत्रेयः। सविता। गायत्री]

विश्वानि देव सवितर्
दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

[ऋग्वेद ५।८२।५; य० ३०।३।]

१५. अर्थ— हे (देव) दिव्य गुणों वाले (सवितर्) [जगदुत्पादक] सवितृ नामक परमात्मा [हमारे] (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) पापों [और] कष्टों को (परा सुव) भली-भान्ति सुदूर भेज दो—[अर्थात् नष्ट कर दो]। (यत्) जो कुछ भी (भद्रम्) कल्याणकारी (हो), (तत्) उस को (नः) हमारे समीप (आ सुव) ले आओ—अर्थात् प्रदान करो।

१६. **टिप्पणियां—देव**—देव शब्द से सम्बोधन एक वचन पुल्लिंग रूप है। **सवितर्**-सवितः–सवितृ से सम्बोधन प्रथमा एक वचन का रूप है। दातृ आदि के समान रूप चलेंगे। पहले मन्त्र में इस का षष्ठी का रूप आया है। और उस के समान ही यह यहां भी पर-मात्मा और सूर्य का वाचक है। सूर्य भी जड़-चेतन का अधिष्ठाता=शासक देव है। मध्यकालीन भाष्यकारों और आधुनिक बहुत से अनुवादकों ने इसे सूर्य का ही द्योतक माना है। **दुरितानि**—दुर्+√इ+ क्त, नपुंसकलिंग द्वितीया बहुवचन का रूप है। √ इ जाना, प्राप्त करना,

समझना आदि । अतः पाप, कष्ट, दुःख आदि । आधुनिक विद्वान् इसे 'कष्ट' वाचक ही मानते हैं । **परा सुव, आ सुव**—परा और आ पूर्वक √ सू (अदादि और दिवादि) से लोट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन । वेद में प्रधान वाक्य में उपसर्ग क्रिया से अलग और स्वतन्त्र रहता है । **नः**—अस्मद् से द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी बहुवचन का अन्वादेश-वैकल्पिक रूप है । यहां चतुर्थी या षष्ठी का रूप अभिप्रेत है ।

३. दीर्घायुष्कामः

भूमिका

१७. तीसरा मन्त्र भी ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में आया है । यजुर्वेद की परम्परा में श्, र्, ह आदि से तुरन्त पहले आने वाले पदान्त म् को ॐ॒ या ँ॒ चिह्नों से अंकित करते हैं और उसे 'गुम्' बोलते हैं ।

१८. इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि दध्यङ् आथर्वण, देवता सूर्य और छन्द भूरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् हैं । इस में सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम १०० वर्ष से भी अधिक काल तक स्वस्थ और अविकलेन्द्रिय रहें । सवितृ के समान सूर्य भी परमात्मा और सूर्य का वाचक है ।

१९. मन्त्र—[दध्यङ् आथर्वणः । सूर्यः । भूरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् ।]

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ॒
शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

[य० ३६।२४; ऋ० ७।६६।१६]

२०. अर्थ—(पुरस्तात्) सामने पूर्व दिशा में (तत्) वह [सुविख्यात] (देवहितम्) देवताओं के लिए कल्याणकारी (शुक्रम्) देदीप्यमान (चक्षुः) नेत्र (उच्चरत्) ऊपर निकल आया है। [हम] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं [अर्थात्—वर्षों] तक (पश्येम) देखते रहें । (शतम्) सौ (शरदः) सर्दियों—वर्षों तक (जीवेम) जीते रहें। (शतम्) सौ शरद् ऋतुओं [-वर्षों] तक (शृणुयाम) सुनते रहें । (शतम्) सौ (शरदः) सर्दियों तक (प्र ब्रवाम) प्रवचन-उपदेश आदि करते रहें। (शतम्) सौ (शरदः) सर्दियों तक, (च) और (शतात्) सौ (शरदः) सर्दियों से भी (भूयः) अधिक [वर्षों तक] (अदीनाः) अपरतन्त्र [-स्वतन्त्र=स्वाधीन] (स्याम) रहें।

२१. टिप्पणियां—चक्षुः—चक्षुष् से नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन का रूप है। देवहितम्—देवेभ्यः हितम् । देवताओं के लिए हितकारी, कल्याण करने वाला। एक अन्य मन्त्र में सूर्य को अग्नि, मित्र और वरुण की आंख कहा है । दर्शन और विश्वास का एक मात्र कारण होने से आंख सब की हितसाधक है। हित—√ धा + क्त; स्थापित किया हुआ, रक्खा हुआ । अतः लक्षणा से 'कल्याणकारी' अर्थ हुआ। पुरस्तात्--पुरस् + तातिल् । पूर्व दिशा । यह पद सदा अव्यय रहता है । शुक्रम्—सफेद, शुभ्र, स्वच्छ । यह √ शुच् से निष्पन्न हुआ है । दयानन्द सरस्वती ने इस का अर्थ 'आशुकर' किया है । अतः शीघ्रकारी, अर्थात् तीव्र–दूरदर्शक भाव भी लिया जा सकता है । उच्चरत्-उद्+√चर्+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का अट्-हीन रूप। ऊपर निकल आया है। यहां यह भूतकाल 'तत्काल-अभी' का द्योतक है। पश्येम, जीवेम, शृणुयाम, ब्रवाम, स्याम—ये क्रमशः√दृश्, √ जीव्, √श्रु, √ब्रू और √ अस् से विधिलिङ् उत्तम पुरुष बहुवचन के रूप हैं। शरदः शतम्—मानव की आयु सौ वर्ष की मानी

गई है—"शतायुर्वै मानवः"। अतः यहां भी सौ वर्ष जीने आदि की कामना की गई है। देखना, जीना, सुनना, कहना और होना—सब एक दूसरे के पूरक हैं और 'जीना' क्रिया के भाव को सुपुष्ट करते हैं। विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन काल में जिस ऋतु से वर्ष प्रारम्भ होता था, उसी ऋतु का नाम वर्ष का पर्याय बन जाता था। यहां पर शरदः का प्रयोग उसी शैली के अन्तर्गत हुआ है। इसी प्रकार ग्रीष्म के नाम पर 'समाः' का प्रयोग होता है। कुछ विद्वान् इन प्रयोगों से ज्योतिष की गणना द्वारा ऋग्वेद की रचना के काल का अनुमान भी लगाते हैं। **अदीनाः**—दीन और परतन्त्र को स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है। अतः स्वतन्त्र रहने की प्रार्थना की गई है। **भूयश्च**—जीवन जितना लम्बा होगा, मनुष्य उतना ही अधिक लोक के सुखों का उपभोग करता हुआ आगामी जीवन के लिए पुण्यों का संचय कर लेगा। इस प्रार्थना से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय सौ वर्ष से भी अधिक आयु वाले जन होते थे। **शतम्, शतात्**—शत शब्द सदैव नपुंसकलिंग एक वचन में प्रयुक्त होता है।

.२.

चरैवेति

भूमिका

ब्राह्मण

१, वैदिक साहित्य में वेदों और उन की शाखा संहिताओं के बाद ब्राह्मण साहित्य का स्थान है। एक परम्परा इन्हें भी श्रुति और ईश्वरीय ज्ञान मानती है, परन्तु दूसरी परम्परा इन्हें वेदव्याख्यान मात्र मानती है और वेद के अनुकूल भाव आदि होने पर ही इन्हें प्रामाणिक मानती है। यह कहना अनुचित नहीं कि मूल की तुलना में जितनी प्रामाणिकता एक उद्धरणों सहित कुंजी प्रश्नोत्तर और सरल अध्ययनों की होती है, उतनी ही वेद-संहिताओं की तुलना में ब्राह्मणों की है। ब्राह्मण शब्द की ब्रह्मन् से अण् प्रत्यय लगा कर 'ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानम्' अर्थ में व्याख्या की गई है।

ब्राह्मणों का काल

२. ब्राह्मणों की रचना का काल वेदसंहिताओं के संकलन के बाद माना जाता है। मैक्स मूलर ने इन्हें ६०० से ८०० ई० पू० में रक्खा। ज्योतिष के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० के लगभग बैठता है। यह भी निर्विवाद है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ आदि संहिताकाल में प्रचलित थे। उसी परम्परा को यहां लेखबद्ध प्रामाणिक और संसक्त रूप दिया गया है। यह विकास दीर्घकालीन रहा होगा। सम्भव है कि उपलब्ध ब्राह्मणों से पहले छोटे-बड़े कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ रहे हों जिन के आधार पर ये उपलब्ध ब्राह्मण रचे गये। कुछ भी हो,

इन की रचना चाहे जब और चाहे जिस आधार पर की गई हो, इन की मूल सामग्री का सीधा संहिताकाल से सम्बन्ध है।

ब्राह्मणों की संख्या और नाम

३. प्रत्येक वेद के अपने-अपने एक वा अधिक ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषीतकि और शांखायन ब्राह्मण, यजुर्वेद के शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण (=पंचविंश ब्राह्मण), मन्त्र, आर्षेय, सामविधान, संहितोपनिषद्, दैवत, षड्विंश, वंश, जैमिनीय और जैमिनीयोपषिद् ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिलते हैं। इन में तैत्तिरीय और जैमिनीय इन नामों की शाखाओं के ब्राह्मण हैं। जैमिनीयोपनिषद् जैमिनीय ब्राह्मण का ही अंग है। इसी प्रकार मन्त्र ब्राह्मण आदि भी किसी समय पंचविंश ब्राह्मण के अंग रहे हो सकते हैं।

ब्राह्मणों के विषय

४. ब्राह्मणों में अपनी-अपनी संहिताओं और शाखाओं से सम्बन्धित क्रियाकलाप का संकलन, उन की प्रामाणिकता का विवेचन और उन के मूल भाव या प्रतीक आदि का कथन मिलते हैं। इन में वर्णित क्रियाएं बड़ी जटिल हैं और विशेषज्ञ के बिना कार्यान्वित नहीं की जा सकतीं। कुछ का तो संभार भी सामान्य मनुष्य जुटाने में असमर्थ रहेगा। कुछ नितान्त अव्यवहार्य और प्रतीकमात्र हो मालूम पड़ते हैं। शेष में भी कुछ क्रियाएं अप्रयोज्य प्रतीत होती हैं। प्रतीक की दृष्टि से ये सब शिष्ट और ग्राह्य हो जाते हैं।

ब्राह्मणों के आख्यान

५. ब्राह्मणों में स्थल-स्थल पर बहुत से सरल, संक्षिप्त और रोचक आख्यान भी मिलते हैं। इन से ही आगे चल कर

कहानी-कथा ग्रादि का विकास हुग्रा है। इन ग्राख्यानों की भाषा सरल, सुबोध ग्रौर ललित है। सामान्यतः ब्राह्मणों की भाषा ग्रपरिपक्व, ग्रविकसित, भद्दी, ग्रस्पष्ट ग्रौर ग्रपूर्ण है, परन्तु ग्राख्यानों की भाषा में ये दोष नहीं हैं। यहां वाक्य भी छोटे-छोटे हैं। उन की भाषा पीछे की लौकिक संस्कृत में विकासोन्मुख है।

ऐतरेय ब्राह्मण

६. ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण महीदास ऐतरेय की रचना है। काल की दृष्टि से यह वैदिक संस्कृति के ह्रास के युग का प्रतीत होता है ग्रौर कम-से-कम शतपथ ब्राह्मण से ग्रर्वाचीन मालूम होता है। तथापि ग्राधुनिक विद्वान् इसे शतपथ ब्राह्मण से पहले की रचना मानते हैं

शुनःशेप ग्राख्यान

७. इस ऐतरेय ब्राह्मण में राजसूययज्ञ के प्रसंग में पुत्र की ग्रावश्यकता ग्रौर परिश्रम के फल का प्रतिपादक एक बहुत सुन्दर ग्राख्यान मिलता है। इसे शुनःशेप ग्राख्यान कहते हैं। स्मरण रहे जिस प्रकार स्वप्न में मानव के ग्रनुभव में ग्राई हुई वस्तुग्रों ग्रौर घटनाग्रों से एक सम्बद्ध सा रूप दिखाई पड़ता है इसी प्रकार कवि ग्रपने चारों ग्रोर के वातावरण से सामग्री ले कर कल्पना-मिश्रित कथा को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सृष्टि करता है। ये कथाएं वैदिक साहित्य में ग्राख्यान या इतिहास कहलाती हैं। ग्रतः ग्राख्यानगत वर्णनों को यथार्थ मानना व्यामोह ग्रौर ग्रज्ञान है।

शुनःशेप ग्राख्यान की कथा

८. शुनःशेप के इस ग्राख्यान की संक्षेप से कथा इस प्रकार है:—

९. इक्ष्वाकु कुल में वेधस के पुत्र हरिश्चन्द्र नामक एक राजा हुए हैं। उस की सौ रानियां थीं, परन्तु उस के न कोई पुत्र-था न और कोई सन्तान। एक बार उस का नारद ऋषि से पुत्र-प्राप्ति की अनिवार्यता के विषय में वार्तालाप हुआ। नारद ने बताया कि अपने जीवनकाल में पुत्र का मुख देखने से पिता पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है। पृथिवी, अग्नि और जल से मिलने वाले भोगों से बढ़ कर पुत्र का सुख है। वह पिता की आत्मा और संसार तथा दुःख से पार उतारने वाला होता है। पुत्रहीन के लिये चारों आश्रमों का जीवन निरर्थक है। पुत्र दोनों लोकों में ज्योति है। पुत्रहीन का लोक नष्ट हो जाता है। सब उसे पशु समझते हैं। पुत्रवाले ही शोकरहित हो कर छाती तान कर निःशंक और सानन्द इस जगत् में घूमते है। यह सुन कर हरिश्चन्द्र ने नारद से पूछा कि उसे पुत्र कैसे मिले।

१०. नारद ने कहा कि वरुण देवता से प्रार्थना करो और कहो कि जो पुत्र तुम्हें पैदा होगा उस को तुम राजा वरुण की भेंट चढ़ा दोगे। हरिश्चन्द्र ने उस के परामर्श के अनुसार किया। वरुण ने उस की प्रार्थना पर उसे एक पुत्र दिया और उस की बलि मांगी। परन्तु हरिश्चन्द्र यदि ऐसा कर देते, तो उन को क्या लाभ होता। अतः उन्हों ने वरुण को टलाया कि अभी तो यह दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का हो जाने पर मैं इस को तुम्हारी भेंट चढ़ा दूंगा। वरुण मान गया और रोहित नामक इस बालक के दस दिन का हो जाने पर फिर बलि की मांग की। हरिश्चन्द्र ने फिर टलाया कि दान्त निकलने पर यज्ञ करूंगा। वरुण मान कर फिर अपने स्वीकृत समय पर आया। अब हरिश्चन्द्र ने फिर युक्ति निकाल कर कहा कि अभी इस के दूध के दान्त गिर कर पक्के दान्त निकल आने दो। वरुण उस की बात

मान कर दी हुई अवधि पर फिर आया। हरिश्चन्द्र ने उसे रोहित के शस्त्रधारी होने तक के लिए फिर टला दिया। जब रोहित शस्त्रधारी हो गया, तब वरुण ने फिर मांग की। अब हरिश्चन्द्र आगे न टला सके और रोहित की भेंट देने के लिए राज़ी हो गए। उन्हों ने रोहित को बुला कर सब बात बता कर कहा कि उसे वरुण की भेंट चढ़ाया जायगा। रोहित सहमत न हुआ और जंगल में भाग गया।

चरैवेति

११. यहां से इस संकलन में संगृहीत अंश–चरैवेति की कथा चालू होती है।

१२. रोहित के भाग जाने पर वरुण ने हरिश्चन्द्र को पकड़ लिया। हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया और उस का पेट फूल गया। पिता के रोग की वार्ता सुन कर रोहित घर आने के लिए जंगल से बस्ती में आया। वहां पुरुष के वेष में इन्द्र ने मिल कर कहा कि परिश्रमशील को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, इस लिए परिश्रम करो और घूमो—गतिशील बनो। घर में बैठना बेकार है। रोहित एक वर्ष फिर भ्रमण करता रहा और पुनः घर की ओर चला। इन्द्र ने फिर उपदेश दिया कि विचरणशील को सब प्रकार के फल मिलते हैं और उस के दुःख दूर हो जाते हैं और रोहित को फिर एक वर्ष के लिए जंगल में भ्रमणशील बना दिया। इसी प्रकार तीसरे, चौथे और पांचवें वर्षों में इन्द्र ने रोहित को अपने घर जाने से रोका और कहा कि विचरणशील का ही ऐश्वर्य वृद्धिशील रहता है। घूमने वाला ही सत्ययुग और जूए की कृत फेंक के समान पूर्ण हो पाता है और स्वादु फल को प्राप्त करता है।

१३. छठे वर्ष में उस की भेंट भूख से संतप्त सौयवसि अजीगर्त ऋषि से हुई। इस के तीन पुत्र थे–शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलाङ्गूल। रोहित ने अपने बदले बलि देने के लिए उन में से एक पुत्र को मांगा। पिता और माता ने क्रमशः ज्येष्ठ और कनिष्ठ को देने से इंकार कर दिया और सौ (सुवर्ण मुद्राओं या गौओं) के बदले मध्यम पुत्र शुनःशेप को बेच दिया।

१४. रोहित इस शुनःशेप को ले कर पिता के पास आया। दोनों ने वरुण से रोहित के बदले में शुनःशेप की भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। वरुण सहर्ष राजी हो गए, क्यों कि क्षत्रिय बालक से ब्राह्मण बालक अधिक गुणवान् या श्रेष्ठ होता है। वरुण के निर्देश पर शुनःशेप को राजसूय में बलि देने के लिए बान्धा गया।

शुनःशेप की कथा का उपसंहार

१५. प्रस्तुत संकलन की कथा यहां समाप्त हो जाती है। आगे की कथा इस प्रकार है।

१६. जब शुनःशेप को बलि के लिए लाया गया तो उसे बलि के यूप से बान्धने और उस के बाद मारने के लिए कोई आदमी नहीं मिला। यहां भी शुनःशेप का पिता सौ-सौ [सुवर्ण मुद्राओं या गौओं] के बदले इन दोनों कामों को करने के लिए तय्यार हो गया।

१७. शुनःशेप इस नृशंस और बीभत्स कर्म की तय्यारी को देख कर कांप उठा और देवताओं की शरण में गया। उस ने क्रम से प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण, अग्नि, विश्वे देवों, इन्द्र, अश्विनों और उषस् की स्तुति की। उषस् की स्तुति में उस ने

तीन मन्त्र पढ़े और उन से उस के एक-एक कर के तीनों बन्धन अपने आप खुल गए।

१८. ऐसा होने पर ऋत्विजों ने शुनःशेप को अपना भागी बना लिया और उस ने अपने पिता की प्रार्थना को ठुकरा कर विश्वामित्र को अपना पिता मान लिया।

चरैवेति

१. अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह। तस्य होदरं जज्ञे। तदु ह रोहितः शुश्राव। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—अब वरुण ने इक्ष्वाकुसन्तान [हरिश्चद्र] को पकड़ लिया। उस [हरिश्चन्द्र] को जलोदर [रोग] पैदा हो गया। रोहित ने इस [घटना] को सुना। वह जंगल से बस्ती [की ओर] आया।

टिपणियां—अथ—यह प्रारम्भ और घटनाओं में एक के बाद आने वाली दूसरी घटना के काल का सूचक अव्यय है। इस पद को शुभ और मांगलिक भी माना गया है। **ह**—यह वाक्य में शोभा आदि लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह अव्यय है। सामान्यतः हिन्दी में इस का कोई अनुवाद नहीं किया जाता है। कभी-कभी 'निश्चय से' अर्थ कर भी देते हैं। **वरुणः**-ये ऋग्वेद में ऋत—नियम और व्यथस्था के देवता हैं। इन के तीन पाश हैं, जिन से वे अपराधियों को बांधते हैं। ये पाश उत्तम, मध्यम और अधम कहलाते हैं। इन के दण्ड से सब डरते हैं। इन का जल से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है। पुराणों में तो ये समुद्र के देवता हैं। अतः इन के द्वारा बान्धा हुआ पुरुष जलोदर जैसे रोगों से पीडित होता है। ये नैतिक अपराधों के दण्डदाता हैं। इस आख्यान में वरुण को शरीरधारी और मानवीय भावों से युक्त सरल, विश्वासी

और दूसरे की सुविधा का ध्यान रखने वाला चित्रित किया गया है। **जग्राह**—√ग्रह्+लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। **उदरम्**—पेट—पेट का बढ़ना-जलोदर रोग। **जज्ञे**—√जन्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन, आत्मने पद। पैदा हुआ-हो गया। **तत्**—इस अर्थात् पिता के जलोदर से पीडित होने को। **उ**—यह भी 'ह' के समान पूरक पद है। **शुश्राव**—√श्रु+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। **एयाय**—आ+√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

२. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

"नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।

पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥

चरैवेति।" इति।

अर्थ—पुरुष के रूप में पास जा कर इन्द्र ने [उस रोहित से] कहा-"हे रोहित--हम ने सुना है कि जो घूमता-फिरता नहीं है उस को लक्ष्मी नहीं मिलती है। मनुष्यों (=अपने सम्बन्धियों) के बीच रहने वाला जन पापी होता है। निःसन्देह इन्द्र गतिशील का मित्र होता है। अतः भ्रमण करो ही।"

टिप्पणियां—**इन्द्रः**-यह ऋग्वेद का सर्वप्रमुख और आर्यों का युद्ध और राष्ट्र का देवता है। ऋग्वेद का अधिकांश भाग इसी की स्तुति में हैं। इस के प्रमुख कर्म वृत्र के साथ युद्ध करना, और सोमपान करना हैं। पौराणिक सम्प्रदाय में यह देवों का राजा और स्वर्ग का शासक है। इस का दूसरा प्रधान गुण सम्पत्ति का स्वामित्व है। पुराणों का इन्द्र षड्यन्त्रकारी है। अतः यहां भी रोहित को बहकाने में समर्थ होता है। **पर्येत्य**—परि+आ+√इ+ल्यप्। **उवाच**—√ब्रू+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। **अनाश्रान्ताय**—न थका हुआ, जो विश्रामी जीव

नहीं है, कर्मठ है। शुश्रुम—√श्रु+लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन। पापः—पापमस्यास्ति। पाप+अच्। नृषद्—नृषु सीदति। मनुष्यों में रहता है। चरतः—√चर्+शतृ, पुल्लिग प्रथमा बहुवचन। चरैव—चर+एव। चर्—√चर्+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन।

३. "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—"निःसन्देह 'विचरण करो' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है," यह [सोच कर रोहित] दूसरे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

टिप्पणियां—अवोचत्—√ब्रू से लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। वै—यह 'निश्चय', 'निःसन्देह' वाचक अव्यय है। मा—अस्मद् से द्वितीया एक वचन का अन्वादेश रूप है। यह वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त नहीं होता है। चचार—√चर्+लिट् प्रथम पुरुष एकवचन।

४. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—
"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥"
इति।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—"विचरण करने वाले की दोनों जंघाएं फूलों से युक्त हो जाती हैं। [उस की] आत्मा ऐश्वर्यशाली और फल को प्राप्त करने वाली हो जाती है। उस के सब पाप [लम्बे] प्रशस्त मार्ग पर [भ्रमण की] थकान [या परिश्रम] से नष्ट हुए सो जाते हैं। इस लिए भ्रमण करते ही रहो।"

टिप्पणियां—पुष्पिण्यौ—स्त्रीलिंग पद–'जंघे' का विशेषण है। पुष्पाणि अस्याः जातानि सन्ति सा पुष्पिणी। फूलों से युक्त फूल आने पर ही फल आता है। मासिक धर्म से युक्त स्त्री को भी पुष्पवती कहते हैं, क्योंकि वह गर्भ धारण करने में समर्थ होती है। अतः यहां जंघाएं परिश्रम के फल प्राप्त करने वाली हो जाती हैं और घूमने वाला सफलता प्राप्त करता है। अतः यदि तुम परिश्रम करोगे तो तुम्हारे मन की इच्छा—वरुण देवता को बलि दिये जाने से मोक्ष—की सिद्धि हो जायगी और तुम्हारा पिता भी ठीक हो जायगा। अतः परिश्रम करो, घूमो, अभी घर मत जाओ।" इन्द्र के समस्त वचनों का यही अन्तिम और एक मात्र लक्ष्य और भाव है। **चरतः**—√चर्+शतृ+षष्ठी एक वचन पुल्लिंग। घूमने—परिश्रम करने वाला। **भूष्णुः**–√भू+स्नु। होने वाला, धन कमाने—प्राप्त करने वाला, अतः ऐश्वर्य-शाली, समृद्ध। **फलग्रहिः**—फलं गृह्णाति इति। फल+√ग्रह्+कि। फल प्राप्त कर लेने वाला, सफल। **शेरे**—√शी से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन का वैदिक रूप। लौकिक रूप शेरते होता है। **पाप्मानः**–पाप्मन् से प्रथमा बहुवचन, पुल्लिंग। पाप, कष्ट, दुःख। वैदिक दर्शन में दुःख, निर्धनता, रोग आदि को पाप माना गया है। देखो हमारा 'वैदिक दर्शन' नामक लेख। **प्रपथे**—प्रकृष्टः पन्थाः, तस्मिन्। प्र+पथिन्+अ। **हताः**—√हन्+क्त+पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन।

५. "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—"निःसन्देह 'भ्रमण करो' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है," यह [सोच कर रोहित] तीसरे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

६. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

"आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥" इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा:—"बैठे हुए का ऐश्वर्य [या-सौभाग्य] बैठा रहता है, खड़े हुए का ऊपर [सीधा]खड़ा रहता है, लेटे हुए [या सोए हुए या पड़े हुए] का सोता है और भ्रमण करने वाले का ऐश्वर्य [या सौभाग्य अवश्य ही गति करता रहता है [अर्थात्-विकसित होता-बढ़ता रहता है] इस लिए घूमते ही रहो।"

टिप्पणियां—आस्ते—√आस् बैठना से लट् प्रथम पुरुष एक वचन। भगः—√भज्+घ। ऐश्वर्य, सौभाग्य। वेद में यह ऐश्वर्य का देवता है। सविता आदि के साथ इस से भी धन देने की प्रार्थनाएं की गई हैं। प्रातःकालीन प्रार्थना में अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं से भग—ऐश्वर्य देने की प्रार्थना की गई है। देखो यजुर्वेद ३४।३४–४० । आसीन—√आस्+शानच् । तिष्ठतः—√स्था+शतृ+पुंल्लिग षष्ठी एक वचन । शेते—√शी+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । निपद्यमानस्य—नि+√पद्+(दिवादिगणीय य)+शानच्+षष्ठी एक वचन पुंल्लिग। गतिहीन, पड़ा हुआ, सोया हुआ । चराति—√चर्+लेट् प्रथम पुरुष एक वचन। वेद में एक लेट् लकार भी होता है, जो लोक में नहीं मिलता है। सामान्यतः यह लेट् विधिलिङ् के अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहां पर 'संभावना, आशा और अवश्यंभाविता' के भाव अभिप्रेत हैं।

७. "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—"निःसन्देह 'भ्रमण करते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझे कहा है," यह [सोच कर रोहित] चौथे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

८. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

"कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः,
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति॥" इति।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—"सोता हुआ [पुरुष] कलि [के समान] होता है, जागता हुआ [शब्दार्थ—नींद को त्यागता हुआ] द्वापर [के समान होता है], [बिस्तर से] उठता हुआ त्रेता [के समान] होता है और गति करता हुआ कृत [के समान] हो जाता है। इस लिए अवश्य ही भ्रमण करते रहो।"

टिप्पणियां—कलिः, द्वापरः, त्रेता, कृतम्—मनु ने मनुस्मृति में भी यही भाव प्रकट किया है—

"कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरस्तु कृतं युगम्॥" [६।३०२]

सायण ने मनु के भाव के अनुकूल कलि आदि पदों को चारों युगों का द्योतक माना है। भाव यह है कि जिस प्रकार कलियुग आदि में धर्म की स्थिति होती है, उसी प्रकार सोते हुए आदि मनुष्यों के भाग्य की होती है। सत्ययुग (=कृतयुग) में ही धर्म अपने पूर्ण उत्कर्ष पर होता है, अतः परिश्रमशील का भाग्य भी चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् इन कलि आदि को जूए में इन नामों वाली पांसों की फेंकों का द्योतक मानते हैं। भाव दोनों में समान है। शयान—√शी+शानच्। संजिहान—सम्+√हा (जाना)+शानच्। उत्तिष्ठन्—उद्+√स्था+

शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन। संपद्यते—सम्+√पद्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। चरन्—√चर्+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन।

९. " 'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह पंचमं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—"निःसन्देह 'भ्रमण करते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझे कहा है", यह [सोच कर रोहित] पांचवें वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

१०. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—
"चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।"
इति।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—"गति करता हुआ [पुरुष] निश्चय ही शहद [के सदृश मीठे और] उदुम्बर [=गूलर के सदृश] स्वादिष्ट [फल] को प्राप्त करता है। सूर्य के परिश्रम [कीथ-प्रमुखता-वैशिष्ट्य, गंगा प्रसाद-सौंदर्य, सायण-श्रेष्ठता] को देखो जो गति करता हुआ [कभी भी] आलस्य नहीं करता है। अतः घूमते ही रहो।"

टिप्पणियां—मधु और उदुम्बरम् में उपमा अभिप्रेत है। इन्हें तादात्म्यजन्य अतिशयोक्ति का रूप भी माना जा सकता है। उदुम्बर— गूलर, इंजीर। श्रेमाणम्—भाष्यकारों और अनुवादकों ने इसे लक्ष्मी के वाचक श्री से मान कर अर्थ किए हैं। परन्तु श्रम का प्रकरण होने से इसे श्रम के अर्थ में लेना और √ श्रम् से व्युत्पन्न करना ही ऐतरेयकार को अभिष्ट है। √ श्री (उबालना, पकाना) से व्युत्पन्न

करने पर यह भाव प्राप्त किया जा सकता है। तन्द्रयते—तन्द्रां करोति। तन्द्रा से नामधातु, लट् प्रथम पुरुष एक वचन।

११. " 'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह षष्ठं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय, इति।

अर्थ—"निःसन्देह 'घूमते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझ से कहा है", यह [सोच कर रोहित] छठे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। [वहां] जंगल में उस [रोहित] ने भूख से सताए हुए सुयवस के पुत्र अज़ीगर्त [नामक] ऋषि को पाया।

टिप्पणियां—**सौयवसि**-सुयवसस्य अपत्यं पुमान्; सुयवस+इञ्। **अशनया**—अशना (-भूख) तृतीया एक वचन, स्त्रीलिंग। **परीत**—परि+√इ+क्त। **उपेयाय**—उप+√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

१२. तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः—शुनःपुच्छः, शुनःशेपः, शुनोलाङ्गूल इति।

अर्थ—उस के तीन पुत्र थे, [जिन के नाम] शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल [थे]।

टिप्पणियां—**आसुः**—√अस्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। लोक में लिट् आदि आर्धधातुक लकारों में √अस् को √भू हो जाता है, केवल कारयामास आदि रूपों में ही √अस् रहता है; परन्तु यहां √भू न हो कर √अस् ही रहा है। **शुनःपुच्छ आदि**—ये नाम इसी प्रकार के मालूम पड़ते हैं जैसे आज-कल चूहामल, मूसा, चोबा, तोताराम,

छिपकली मल, बरफी, इमरती, जलेबी, चोथमल आदि नाम रक्खे जाते हैं। शुनः श्वन् (कुत्ता) से षष्ठी एक वचन का रूप है। पुच्छ और लांगूल दोनों पूंछ के और शेप 'प्रजनन इन्द्रिय' का वाचक हैं। वेद में शुनः 'सुख' का भी वाचक है, और शेप 'स्पर्श' का। अतः इन नामों को इस शुनः—सुख से भी सम्बद्ध किया जा सकता है। हरियप्पा ने ऐसा ही माना है। दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है। ये मत इस लिये माननीय प्रतीत होते हैं कि वैदिक ऋषियों और राजाओं आदि के नामों में कुत्सित नामों की सत्ता विरली ही मिलेगी।

१३. तं होवाच—"ऋषेऽहं ते शतं ददामि। अहमेषामेकेनात्मानं निष्क्रीणा" इति।

अर्थ—[रोहित ने] उस [अजीगर्त] से कहा—"हे ऋषि मैं तुम्हें सौ [सुवर्ण मुद्राएं या गौएं] देता हूँ। मैं इन [तुम्हारे पुत्रों] में से एक [पुत्र को यज्ञ में दे कर] अपने आप को ऋण-मुक्त कराना चाहता हूँ।

टिप्पणियां—शतम्—ये सौ क्या हैं ? यह नहीं लिखा गया है। उस काल में सुवर्ण मुद्राओं और गौओं से क्रय-विक्रय व्यवहार चलता था। रोहित जंगल में घूम रहा है। उस के पास मुद्रा तो हो सकती हैं, गौएं होना सम्भव नहीं जान पड़ता। **निष्क्रीणै**—निस्+√क्री लोट् उत्तम पुरुष एक वचन। मूल्य दे कर—ऋण का धन दे कर अपने को मोल लेना-छुड़ाना-बचाना चाहता हूँ। सन्धि में ऐ को आय् और आय् के य् का लोप हो गया है।

१४. स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच—"न न्विमम्" इति।

अर्थ—वह सब से बड़े पुत्र को पकड़ता हुआ बोला—'निश्चय ही इस को [तो नहीं दूंगा, और किसी को ले सकते हो]।"

टिप्पणियां—ज्येष्ठ—वृद्ध+इष्ठन्। निगृह्णान—नि+√ग्रह्+शानच्।

१५. "नो एवेमम्" इति कनिष्ठं माता।

अर्थ—माता ने सब से छोटे [पुत्र को पकड़ते हुए कहा कि] "न ही इस को [दूंगी]।"

टिप्पणी—कनिष्ठ—युवन्+इष्ठन्।

१६. तौ ह मध्यमे संपदायांचक्रतुः शुनःशेपे।

अर्थ--उन दोनों ने बीच के [पुत्र] शुनःशेप पर [मूल्य के फल को] संक्रान्त किया [अर्थात् धन ले कर बेचना-देना स्वीकार कर लिया]।

टिप्पणी—संपादयांचक्रतुः-- सम्+√पद्+णिच्+लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन। णिजन्त धातुओं के अन्त में आम् लगा कर √कृ, √भू और √अस् के लिट् लकार के रूपों का प्रयोग किया जाता है। अतः यहां √कृ का लिट् मध्यम पुरुष द्विवचन का रूप लगाया गया है।

१७. तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद ग्राममेयाय, इति।

अर्थ—वह [रोहित] उस [अजीगर्त] को सौ [मुद्रा] दे कर उस [शुनःशेप को ले कर वह [रोहित] जंगल से बस्ती में आया।

टिप्पणी—दत्त्वा-√दा+क्त्वा। आदाय-आ+√दा+ल्यप्।

१८. स पितरमेत्योवाच--"तत हन्ताहमनेनात्मानं निष्क्रीणा" इति ।

अर्थ—वह [रोहित अपने] पिता [हरिश्चन्द्र ऐक्ष्वाक] के पास आ कर बोला-"पिताजी, अहो, मैं इस [शुनःशेप के दान] से अपने आप को [वरुण से उस का] देय चुका कर छुड़ाऊंगा।"

टिप्पणी—एत्य—आ+√इ+ल्यप्। तत—प्रिय जनों के लिए सम्बोधन पद है। इसी से बीच में 'आ' लग कर लौकिक साहित्य का "तात' पद बना है। हन्त—हर्ष और शोक का सूचक अव्यय है। यहां यह हर्ष को व्यक्त करता है, क्यों कि अब पिता और पुत्र दोनों सानन्द और सुरक्षित रह सकेंगे।

१९. स वरुणं राजानमुपससार—"अनेन त्वा यजा" इति ।

अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] राजा वरुण के पास गया [और कहा] कि [मैं] इस [शुनःशेप] से तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहता हूँ।"

टिप्पणियां—राजानम्—वरुण को वेदों में बहुशः राजा कहा है, क्यों कि वह सृष्टि में नैतिक व्यवस्था का धारक है। उपससार—उप+√सृ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। त्वा—युष्मद् से द्वितीया एक वचन में अन्वादेश रूप है। यजै—√यज्+लोट् उत्तम पुरुष एक वचन आत्मनेपद।

२०. "तथेति। भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियाद्" इति वरुण उवाच।

अर्थ—वरुण ने कहा कि "बहुत अच्छा। ब्राह्मण निःसन्देह क्षत्रिय से अधिक अच्छा [या फलदायक] होता है।"

टिप्पणियां—भूयान्—बहु+ईयस्+पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन।

२१. तस्मा एतं राजसूयं यज्ञक्रतुं प्रोवाच। तमेतमभि-षेचनीये पुरुषं पशुम् आलेभे ॥ इति ॥

अर्थ—[उस वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र को] इस राजसूय नामक यज्ञ कर्म को [करने और उस में शुनःशेप की बलि देने के लिये] निर्देश दिया। [उस] अभिषेक [यज्ञ] में उस पुरुष [शुनःशेप] को पशु [रूप] में उपस्थित किया।

टिप्पणियां—तस्मा--तस्मै का सन्धि में यह रूप हो गया है। **राजसूय**—राजा के राजतिलक किये जाने के समय की यज्ञक्रिया। इस में तीर्थस्थानों से जल ला कर राजा को स्नान कराया जाता है। **यज्ञक्रतुम्**—यज्ञ और क्रतु सामान्यतः पर्यायवाची हैं। यहां इन्हें अंगी और अंग के रूप में या विशेष्य-विशेषण रूप में लिया गया है। **अभिषेचनीय**—अभि+√सिच्+णिच्+अनीय। यह राजसूय के लिये प्रयुक्त हुआ है। **आलेभे**—आ+√लभ्+ लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। आ+√लभ् का प्रयोग पशु की हिंसा के लिये भी होता है। यहां अभी न हिंसा की गई है, और न आगे जा कर की जाती है। अतः 'धारण किया, प्राप्त किया, तय्यार किया' भाव अभिप्रेत हैं।"

[ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३]

.३.

शतपथब्राह्मणे

मत्स्यावतारेतिहासः

शतपथ ब्राह्मण में (आई)

मछली के अवतार की कथा

शतपथ ब्राह्मण

१. शतपथब्राह्मण यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। विद्वानों ने इसे वैदिक काल के अन्त का ग्रन्थ माना है। परन्तु इस की सामग्री पर्याप्त प्राचीन है और वैदिक काव्यकाल की समकालीन है। इस की भाषाशैली अन्य ब्राह्मणों की भाषाशैली के समान अपूर्ण, अपरिष्कृत, अनतिपरिस्फुट. आवृत्तिपूर्ण, निरर्थक शब्दों से युक्त और भावमयी है। इस में वैदिक प्रयोगों की बहुलता है। प्रकृत कथा में लेट् के रूपों, लिट् के प्रयोगों और लिङ्ग आदि के व्यत्यय की छटा देखने योग्य है।

शतपथब्राह्मण के विषय

२. इस ब्राह्मण में १४ काण्ड हैं। इन में से पहले नौ में यजुर्वेद के पहले अठारह अध्यायों का अविकल व्याख्यान है। दसवें और ग्यारहवें काण्डों में अग्निरहस्य, बारहवें में प्रायश्चित्त तेरहवें में अश्वमेध और नरमेध और चौदहवें में आरण्यक और उपनिषद् हैं। इस ब्राह्मण में वेदार्थ के लिये महान् सामग्री भरी पड़ी है। वेदार्थ और वैदिक संस्कृति और धर्म के ज्ञान के लिए इतनी उपयोगी पुस्तक शायद ही अन्य कोई हो।

आख्यान

३. अन्य ब्राह्मणों के समान इस में भी अनेकों रोचक आख्यान मिलते हैं। ये आख्यान सरल और ललित पदावली में गुम्फित हुए है। ये आख्यान अनेकविध हैं।

मछली के अवतार की कथा

४. यह कथा शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय में आई है। जलप्लावन की कथा प्रायः संसार के सभी साहित्यों में पाई जाती है। परन्तु शतपथब्राह्मण की कथा जितनी सरस, सरल, स्वाभाविक और मौलिक है उतनी अन्य किसी साहित्य में प्राप्त कथा नहीं है।

५. मत्स्यावतार की कथा बड़ी सरल और संक्षिप्त है। 'एक दिन मनु जी मुख धोने के लिये जल ले रहे थे कि उन के हाथ में एक मछली आ गई। मछली ने मनुजी से कहा कि 'मुझे पालो। मैं आने वाले जलप्लावन से 'तुम्हारी रक्षा करूंगी। पहले मुझे एक घड़े में रखना। फिर एक खाई में। जब बहुत बड़ी हो जाऊं तो समुद्र में छोड़ देना। जब जलप्लावन हो तो एक नौका में चढ़ जाना'। मनु ने मछली को पाला। जब वह बड़ी हो गई तब उसे समुद्र में छोड़ दिया। नियत समय पर जलप्लावन हुआ। मनु नौका में चढ़ गए। मछली ने आ कर नौका को पानी में तैरा दिया और उसे उत्तर में हिमालय पर्वत पर ले गई। वहां जा कर उस ने मनु को आदेश दिया कि वह नौका को वृक्ष से बांध दे और जैसे-जैसे पाने उतरने लगे मनु भी पर्वत से नीचे उतरे। मनु ने आज्ञा का पालन किया। जिस स्थान से मनु नीचे उतरे उसे अब भी 'मनोरवसर्पण' कहते हैं। इस जलप्लावन में समस्त प्रजा बह गई थी। केवल मनु बचे थे।

इस आख्यान की कथा आगे भी चलती है, परन्तु उस में कथानक का अंश अत्यल्प है। इस अंश के अनुसार अब मनु संतान की इच्छा करते हुए घूमने लगे। उन्हों ने पाकयज्ञ किया। जिस में घी, दही आदि की जल में आहुति दी। उस से उन्हें एक पुत्री हुई जिस का नाम इडा था। इडा के निवेदन पर मनु ने उसे यज्ञ में अपना साथी बना लिया। उस से मनु ने मानव जाति की सृष्टि की। यह इडा प्रयाजानुयाज का मध्य ही थी। यही इडा पात्रस्थ यज्ञ सामग्री थी। जो इस प्रकार रहस्य को जान लेता है, वह भी मनु के सदृश प्रजा की सृष्टि कर सकता है।

सानुवादो मत्स्यावतारेतिहासः

अनुवाद सहित मछली के अवतार की कथा

.१.

मनवे ह वै प्रातर् अवनेग्यम् उदकम् आजह्रुर्, यथेदं पाणिभ्याम् अवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥१॥

अर्थ—[एक दिन] प्रातःकाल मनु के लिए [मुख आदि] धोने के लिए [सेवक] जल लाए। जैसे इस [जल] को हाथों से [मुख आदि] धोने के लिये लेते हैं, उसी प्रकार बार-बार मुख धोते हुए उस [मनु] के हाथों में [एक] मछली पहुंच गई।

१. टिप्पणियां—ह और वै ये दोनों शब्द अव्यय हैं और 'निश्चय' के अर्थ में वेद में प्रयुक्त होते हैं। वाक्य में इन का कोई विशेष अर्थ नहीं लगता है। **अवनेग्यम्**—अवनेज्यते प्रक्षाल्यते मुखहस्ताद्यनेन इति अवनेग्यम्। अव + √निज् + यत्। **आजह्रुः**— आ + √हृ + लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। **अवनेजनाय**—(मुखादि) धोने के लिए। अव + √निज् + ल्युट् + चतुर्थी एक वचन नपुंसक लिंग। **अवनेनिजानस्य**— अव + √निज् + यङ् + शानच्। षष्ठी एक वचन पुंल्लिग। बार-बार धोते हुए के। **आपेदे**—आ + √पद् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन, आत्मनेपद। इस के लिट् के रूप ये हैं—आपेदे आपेदाते आपेदिरे। आपेदिषे आपेदाथे आपेदिध्वे। आपेदे आपेदिवहे आपेदिमहे।

.२.

[मत्स्यः] स हास्मै वाचमुवाद। "बिभृहि मा। पारयिष्यामि त्वेति।"

[मनुः "कस्मान्मा पारयिष्यसीति।"

[मत्स्यः] "औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा, ततस्त्वा पारयितास्मीति।"

[मनुः] "कथं ते भृतिरिति ॥२॥

२. अर्थ— उस [मछली] ने उस [मनु] से वचन कहे [अर्थात्—कहा]। "मुझे पालो। [मैं] तुम्हें पार उतारूंगी [या—बचाऊंगी]।"

[मनु ने मछली से पूछा]—"मुझे किस से पार उतारोगी [या-बचाओगी]।"

[मछली ने उत्तर दिया]—'जल का समूह इन सब प्रजाओं को बहायेगा। तुम्हें उस से पार उतारूंगी [या-बचाऊंगी]।''

[मनु ने कहा—"अच्छा। परन्तु यह तो बताओ] कि तुम्हारा पालन-पोषण कैसे हो।''

२ उवाद—√वद्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। बिभृहि—√भृ+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। पारयिष्यामि—√पृ+णिच्+लृट् उत्तम पुरुष एक वचन। अथवा—√पाल्+लृट् उत्तम पुरुष एक वचन। त्वा-युष्मद् शब्द का द्वितीया एक वचन। मा—अस्मद् शब्द का द्वितीया एक वचन। औघः—जल का समूह। जलप्लावन। निर्वोढा—निर्+√वह्+लुट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। इस लकार में इस के रूप ये हैं—निर्वोढा निर्वोढारौ निर्वोढारः। निर्वोढासि निर्वोढास्थः निर्वोढास्थ। निर्वोढास्मि निर्वोढास्वः निर्वोढास्मः। पारयितास्मि—√पृ+णिच्+लुट् उत्तम पुरुष एक वचन। भृतिः—पालन। √भृ+क्तिन्+स्त्रीलिंग प्रथमा एक वचन।

.३.

[मत्स्यः] स होवाच। "यावद् वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन् नाष्ट्रा भवति। उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति। कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि। स यदा ताम् अतिवर्द्धा अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि। स यदा तामतिवर्द्धा अथ मा समुद्रम् अभ्यवहरासि। तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भविता-स्मीति" ॥३॥

३. अर्थ—वह [मछली] बोली—"जब तक [हम] छोटे-से [प्राणी] रहते हैं, तब तक निःसन्देह हमारे मारने वाले

[प्राणी] बहुत होते हैं। और [एक] मछली ही [दूसरी] मच्छली को निगल जाती है। मुझे घड़े में [अपनी आंखों के] सामने पालना। वह [मैं] जब उस [घड़े] से बढ़ जाऊं तब खाई खोद कर मुझे उस में रखना [या-पालना]। 'वह [मैं] जब उस खाई से [भी] बड़ी हो जाऊँ तब मुझे समुद्र में छोड़ देना। तब निःसन्देह [मैं] नाशक प्राणियों की पहुँच से बाहर हो जाऊंगी।'

३. टिप्पणियां—**यावत्**—जब तक, अथवा—क्योंकि। **क्षुल्लकाः**—छोटे से। **बह्वी**—बहु पद से स्त्रीलिंग द्वितीया एक वचन। **नः**—अस्मद् का षष्ठी बहु वचन। **नाष्ट्राः**—नाशक, नष्ट करने वाला, मारने वाला। √नश्+णिच्+त्र। **उत**—और। **गिलति**—√गॄ निगलना+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। **कुम्भ्याम्**—कुम्भी (घड़ा), सप्तमी एक वचन। **बिभरासि**—√भृ पालना, धारण करना+लेट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन। वैदिक साहित्य में विधिलिङ् के अर्थों में एक अन्य लकार का भी प्रयोग होता है जिसे लेट् लकार कहते हैं। इस कहानी में लेट् के अनेकों प्रयोग आए हैं। **अतिवर्धै**—अति+√वृध् बढ़ना (भ्वादि० आत्मनेपद)+लेट् उत्तम पुरुष एक वचन। **कर्षूम्**—खाई। द्वितीया एक वचन, स्त्रीलिंग। **खात्वा**-√खन् खोदना+क्त्वा। **मा**-अस्मद् से द्वितीया एक वचन का वैकल्पिक रूप है। **अभ्यवहरासि**-अभि+अव+√हृ+ लेट् मध्यम पुरुष एक वचन; छोड़ देना। **अतिनाष्ट्रः**—अतीतः नाष्ट्रान् इति अतिनाष्ट्रः मारने वाले, नाशक प्राणियों से परे। अर्थात् उन की पहुँच से परे। **भवितास्मि**—√भू होना+लुट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन। लुट् लकार आज से भिन्न (अनद्यतन) भविष्यत् काल के लिये प्रयुक्त होता है।

.४.

[अब मनु ने मछली को पालना आरम्भ कर दिया।]

४. शश्वद्ध झष आस। स हि ज्येष्ठं वर्धते।

[मत्स्यः] "अथेतिथीँ समां तदौघ आगन्ता। तं मा नावमुपकल्प्योपासासै। स औघ उत्थिते नावमापद्यासै, ततस्त्वा पारयितास्मीति" ॥४॥

४. अर्थ—वह [मछली] जल्दी ही बड़ा मच्छ हो गई क्यों कि वह [अर्थात्-मछली] बहुत तेज़ी से बढ़ती है।

[अब मछली ने मनु से कहा कि—]

"अब निश्चित अवधि वाले वर्ष में वह जलसमूह आयेगा। तब एक नौका बना कर मेरा आश्रय लेना। वह [तुम] जलप्लावन क उमड़ने पर नौका में बैठ जाना। तब मैं तुम्हें बचा दूंगी [या-पार उतार दूंगी।"]

४. **टिप्पणियां—शश्वत्**—शीघ्र ही। **झष**—मच्छ, बड़ी मछली। **हि**-क्यों कि। **ज्येष्ठम्**—बहुत ही अधिक अर्थात् बहुत जल्दी। प्रशस्य (या) वृद्ध+इष्ठन्। **इतिथीम्**—इयतीनां दशानां द्वादशानां वा पूरणी तिथिः इतिथी। जिस में इतनी पूरक तिथियां हों। इदम् + तिथि +ई (ङीप्)। अथवा—इयत्यः तिथयः यस्यां सा इतिथी —इयत्+ तिथि—इतिथि। इतने दिन जिस में हों। दोनों अर्थों का एक ही भाव है—निश्चित अवधि वाले। अमुक, फलां। यह 'समाम्' शब्द का विशेषण है। **समाम**—वर्ष। यह शब्द बहुधा स्त्रीलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। देखो—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद ४०।२। परन्तु यहां पर एक वचन में ही प्रयुक्त हुआ है। **तदौघः**—तत् के स्थान पर 'सः' का प्रयोग होना चाहिये था। **औघः**—जल का समूह। जलप्लावन। **आगन्ता**—आ+√गम् + लुट् प्रथम पुरुष एक वचन। **उपकल्प्य**—उप+√कल्प् (बनाना) +ल्यप्। **उपासासै**—सेवन करना, आश्रय लेना। उप + √आस् बैठना + लेट्

मध्यम पुरष एक वचन। आपद्यासै—आ + √पद् प्राप्त होना + लेट् मध्यम पुरुष एक वचन। पारयितास्मि—√ पॄ, बचना, पार लगना + णिच् + लुट् उत्तम पुरुष एक वचन।

[अब ऋषि जलप्लावन की कथा आरम्भ करते हैं।]

.५.

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथीं तत्समां परिदिदेश, ततिथी ँ समां नावम् उपकल्प्योपासाञ्चक्रे।

स औघ उत्थिते नावमापेदे, त ँ स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे, तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच। तेनैतमुत्तरं गिरिमधिदुद्राव ॥५॥

५. अर्थ—उस [मछली] को इस प्रकार [अर्थात्—जैसे-जैसे मछली ने बताया था—पहले घड़े में और फिर खाई में] पाल कर [मनु ने उसे] समुद्र में छोड़ दिया। उस [मछली] ने जितनी अवधि वाले उस [जलप्लावन के] वर्ष का निर्देश किया था, उस अवधि वाले [अर्थात्—उसी] वर्ष में [मनु] नौका बना कर [उस का] सेवन करने लगा [अर्थात् उस नाव में रहने लगा]।

जल समूह के आने पर वह [मनु] नाव में चढ़ गया। वह मछली उस [मनु] से पास [नाव के] नीचे आ गई। उस [मछली] के सींग में [मनु ने] नौका की रस्सी को बांध दिया। उस [नौका की रस्सी] के साथ वह [मछली] उत्तर दिशा के पर्वत [हिमालय] पर वेग के साथ चली गई।

५. टिप्पणियां—भृत्वा-√भृ पालना + क्त्वा। अभ्यवजहार-अभि + अव + √हृ (छोडना) + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। छोड दिया। यतिथीम्—इतिथी के समान यावत् + तिथि—यतिथी।

जितनी अवधि वाले। तत्—'ताम्' होना चाहिये। परिदिदेश—परि +√दिश् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। ततिथीम्—तावत् + तिथि। उतनी अवधि वाले। उपासांचक्रे—बैठ गया। सेवन किया। उप+ √आस् बैठना+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। उत्थिते—उत् + √स्था+ क्त+पुल्लिंग सप्तमी एक वचन। उठने पर, उमड़ने पर, आने पर। आपेदे—आ + √पद् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। उपन्यापुप्लुवे— उप + नि + आ + √प्लु जाना, तैरना + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। समीप में नीचे आ गई। प्रतिमुमोच—प्रति + √मुच् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। बांध दिया। अधिदुद्राव—अधि + √द्रु जाना, दौड़ना + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। वेग से चली गई, दौड़ गई।

.६.

[मत्स्यः] स होवाच। "अपीपरं वै त्वा। वृक्षे नावं प्रति-
बध्नीष्व। तं तु त्वा मा गिरौ सन्तम् उदकम्
अन्तश्छैत्सीद्, यावद् उदकं समवाऽयात्,
तावत् तावदन्ववसर्पासीति।

स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति।

औघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाह। अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे ॥६॥

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. १-६]

६. अर्थ—वह [मछली] बोली—'निःसन्देह [मैं ने] तुम्हें पार उतार दिया है] या—बचा दिया है]। [अब अपनी] नाव को वृक्ष से बाँध दो। निःसन्देह पर्वत पर वर्तमान तुम्हें जल

बिल्कुल भी नष्ट नहीं कर सकेगा [शब्दार्थ—नहीं काट सकेगा]। जैसे-जैसे जल नीचे उतरता जाए वैसे—वैसे [तुम भी] नीचे उतर आना।

वह मनु [जैसे-जैसे जल नीचे उतरता गया] वैसे-वैसे ही नीचे उतर आया। [जहां से मनु नीचे उतरे] उत्तर दिशा के पर्वत [हिमालय] के उस इस [स्थान] को भी 'मनोरवसर्पण' (मनु के उतरने का स्थान) [कहते हैं]।

जलप्लावन ने उन सब प्रजाओं को बहा दिया। तब यहां [इस संसार में] मनु ही अकेला बचा।

६. टिप्पणियां— **अपीपरम्**—√पृ बचना, उतरना+णिच्+लुङ् उत्तम पुरुष एक वचन। पार उतार दिया है। बचा दिया है। **सन्तम्**—√अस् होना+शतृ+पुल्लिग द्वितीया एक वचन। **अन्तः**—अन्त तक, पूर्ण रूप से, बिल्कुल। **मा छैत्सीत्**—मा के योग में लुङ् लकार का प्रयोग होता है और 'अ' का लोप हो जाता है। **अच्छैत्सीत्**—√छिद्+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। इस वाक्य का अन्वय 'गिरौ तु सन्तं त त्वा उदकम् अन्तः मा छैत्सीत्' होगा। **समवायात्**—सम्+अव+आ+√या+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन। यहां पर लङ् लकार का प्रयोग विधिलिङ् के अर्थ में हुआ है। अच्छी प्रकार नीचे आए अर्थात् उतरने लगे। **अन्ववसर्पासि**—अनु+अव+√सृप् जाना+लेट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन। नीचे उतरना। **अन्ववससर्प**—अनु+अव+√सृप्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। उतरा। **अवसर्पणम्**-अव+√सृप्+ल्युट्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। **निरुवाह**—निर्+√वह्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। **अथेह**-अथ+इह। **परिशिशिषे**—परि+√शिष्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

.४.

मनोः प्रजातिः

मत्स्यावतारेतिहासस्योत्तरार्द्धः

१. सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तत्रापि पाकयज्ञेनेजे । स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवाञ्चकार । ततः संवत्सरे योषित् सम्बभूव । सा ह पिब्दमानेवोदेयाय । तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते । तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते ॥७॥

मनु की प्रजा

(मछली के अवतार की कथा का उत्तरार्द्ध)

१. अर्थ–सन्तान का इच्छुक वह [मनु] पूजा करता हुआ और कष्ट झेलता हुआ रहने लगा । वहां भी उस ने पाकयज्ञ से हवन किया (अर्थात् पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया)। उस ने जलों (अर्थात् प्राणों) में घी, दही, दही की मलाई, दही के पानी (अथवा दूध और दही की बनी लप्सी (का हवन किया । (=दान किया अर्थात्—सेवन किया) । उस से एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई । वह तो मानो शरीरधारी पाकयज्ञ ही उठ आई थी । उस के [निर्माण] के लिए आहुतियों में घी विद्यमान था । उस [स्त्री] से मित्रावरुण देवताओं (अर्थात्—प्राण और अपान, या प्राण और उदान) की भेंट हुई ।

एक वर्ष में 'स्त्री' की उत्पत्ति का भाव अथर्ववेद ८।१०(३)।१ में भी है।

१. टिप्पणियां—**अर्चन्**—√अर्च् पूजा करना+शतृ+पुल्लिंग प्रथमा एक वचन। देवताओं की पूजा करता हुआ। **श्राम्यन्**—√श्रम् थकना, परिश्रम करना+शतृ+पुल्लिंग प्रथमा एक वचन। थकता हुआ, परिश्रम करता हुआ, अर्थात् कष्ट भोगता हुआ—तप करता हुआ। **पाकयज्ञेन**—शतपथब्राह्मण में लिखा है—'पशव्यो हि पाकयज्ञः' (२।३।१।२१) 'पशवो वा इडा' (१।८।१।२०)। अपि च—शतपथब्राह्मण १।८।१।१२-१३ के आधार पर इडा का अर्थ इडा नामक यज्ञपात्र में रक्खी हुई पुरोडाश आदि सामग्री है। यही पशु है। यही पाकयज्ञ है। अतः इस ब्राह्मण के मत में 'पाकयज्ञ' का अर्थ इडापात्र में रक्खी हुई सामग्री है। इस अर्थ की पुष्टि अथर्ववेद ३,१०,११—"इडया जुह्वतो वयं घृतवता यजे। गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः"—यज्ञ में घीयुक्त सामग्री से हवन करते हुए लालचहीन हम गाओं से भरे हुए घरों को प्राप्त हों—से भी होती है। यहां यह सामग्री घृतं दधि मस्त्वामिक्षाम्' इन पदों में बताई गई है। 'अपस्' शब्द का अर्थ 'प्राण' है। अतः पौष्टिक पदार्थों की प्राणों में आहुति अर्थात् उन का प्रयोग ही पाकयज्ञ होता है।

गोपथ ब्राह्मण (१।५।२३) के मत में 'सायं प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः।' अर्थात्—(१) प्रातः और (२) सायं हवन करना (३) नया पौष्टिक भोजन तय्यार करना (४) बलिवैश्वदेव यज्ञ (५) पितृयज्ञ (६) अष्टका यज्ञ और (७) पशुपालन यज्ञ—ये सात यज्ञ पाकयज्ञ होते हैं। आश्वलायन अपने गृह्यसूत्र में इन की संख्या तीन ही बताते हैं और मनु चार।

ईजे—√यज्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। **मस्तु**—दही की मलाई। **आमिक्षा**—दही का पानी अथवा दूध और दही को

मिला कर बनाई हुई लप्सी। अप्सु--जलों में, प्राणों में। [देखो आपो वै प्राणाः। शतपथब्राह्मण ३।८।२।४]। जुहवांचकार-√हु हवन करना, दान करना, ग्रहण करना+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। हवन किया, ग्रहण किया। पिब्दमाना—श्री मोनियर विलियम्ज़ ने इस का अर्थ 'स्थिर' 'दृढ़' किया है। ऋग्वेद १०।१०१।११ में सायण ने इस का अर्थ 'शब्द करते हुए' किया है। परंतु यहां पर 'धारण करते हुए' अर्थ ही उपयुक्त है। सायण ने यहां पर इस का अर्थ 'पाकधर्मात्मिका' अर्थात् 'पाकयज्ञ रूप' किया है। इस ब्राह्मण के आगे के लेख से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। अतः इस का सरल अर्थ 'शरीरधारी पाकयज्ञ' किया जा सकता है। तस्यै में तादर्थ्य में चतुर्थी है। पदे—स्थान में, आहुतियों में। उदेयाय—उद्+आ+√इ जाना+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। मित्रावरुणौ—मित्र और वरुण देवता। प्राण अपान या प्राण और उदान को भी मित्रावरुण कहते हैं। संजग्माते--सम्+√गम् जाना+लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनेपद। मिले।

२. ताँ होचतुः—काऽसीति। मनोर्दुहितेति। आवयोर्ब्रूष्वेति। नेति होवाच। य एव मामजीजनत, तस्यैवाऽहमस्मीति। तस्यामपि त्वमीषाते। तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावतित्वेवेयाय। सा मनुमाजगाम ॥८॥

२. अर्थ—उन [मित्र और वरुण—प्राण और अपान या प्राण और उदान] ने उस [पाकयज्ञात्मिका स्त्री] से पूछा—[तुम] कौन हो? [उस स्त्री ने उत्तर दिया] कि [मैं] मनु की पुत्री [हूँ]।' [मित्रावरुण ने कहा कि ऐसा मत कहो वरन्] यह कहो कि हमारी पुत्री हो]।

[उस स्त्री ने] उत्तर दिया— नहीं। [यह कहना सम्भव नहीं]। जिस ने ही मुझे उत्पन्न किया है उस की ही मैं [पुत्री] हूँ।

परन्तु उस [स्त्री] पर भी वे दोनों [मित्र और वरुण] शासन करते हैं (अर्थात्—अधिकार रखते हैं) । उस [स्त्री] ने इस [तथ्य] को माना अथवा न माना परन्तु वह [वहां से] चली गई । वह मनु के पास पहुंची ॥८॥

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि प्राण और अपान या प्राण और उदान ने शरीरधारी पाकयज्ञ रूप स्त्री (अर्थात्—पौष्टिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शक्ति) से पूछा कि वह कौन है । उस स्त्री ने कहा कि मुझे मनु ने बड़ी कठिनता से [दुः दुःखेन हिता स्थापिता प्राप्ता इति दुहिता] प्राप्त किया है । इस पर मित्रावरुण (प्राण, अपान) ने उस स्त्री (= शक्ति) पर अधिकार बताया । परन्तु व्यर्थ । ऋषि कहते हैं कि वस्तुतः मित्रावरुण का भी उस स्त्री (शक्ति) पर अधिकार था क्यों कि आहुतियां देवताओं को दी जाती हैं । उन की सम्पत्ति होती हैं, अतः आहुतियों से उत्पन्न वह स्त्री मित्र और वरुण की पुत्री थी । मनुष्य का अस्तित्व प्राणों के साथ ही है । अतः उस की शक्ति प्राणों की भी है ।

२. टिप्पणियां—ऊचतुः—√वच बोलना+लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन । अजीजनत—√जन् उत्पन्न होना+णिच्+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । त्वमीषाते—तु+अमी+ईषाते । अमी—द्विवचन । यहां 'अमू' के स्थान पर 'अदस्' का पुल्लिग प्रथमा बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । ईषाते—√ईष् से लट् प्रथम पुरुष द्विवचन । जज्ञौ—√ज्ञा+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । यह 'प्रतिजज्ञौ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मान लिया, स्वीकार कर लिया । अतित्वेवेयाय—अति+तु+एव+इयाय । इयाय—√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । अति का इयाय से सम्बन्ध है । छोड़ कर—अतिक्रमण कर के चली गई ॥८॥

३. ताँ ह मनुरुवाच—काऽसीति । तव दुहितेति । कथं भगवति मम दुहितेति । या अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर् घृतं दधि मस्त्वामिक्षां, ततो मामजीजनथाः । साऽऽशी-

रस्मि । तां मा यज्ञेऽवकल्पय । यज्ञे चेद्वै माऽवकल्पयिष्यसि, बहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यसि । यामु मया काञ्चाऽऽशिषमाशासिष्यसे, सा ते सर्वा समर्द्धिष्यत इति ।

तामेतन्मध्ये यज्ञस्याऽवाकल्पयत् । मध्यं ह्येतद् यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान् ॥६॥

३. मनु ने उस [इडा] से पूछा—[तुम] कौन हो।' [इडा ने उत्तर दिया]—[मैं] तुम्हारी पुत्री [हूँ]।' [मनु ने फिर पूछा] 'कि हे ऐश्वर्यशालिनी देवि ! [आप] मेरी पुत्री कैसे [हैं] ?'' [उस इडा ने उत्तर दिया]–'[आप ने] जो वे घी, दही, दही की मलाई और दही के पानी [अथवा] दूध-दही की बनी हुई लप्सी] की जलों (=अर्थात प्राणों) में आहुतियां दी थीं, उन से मुझे उत्पन्न किया है । वह [मैं आप की] भलाई की कामना [ही] हूँ । उस मुझे [आप] यज्ञ में [अपना] अङ्ग (अर्थात्—साथी, पत्नी) बना लें । यदि निःसन्दिग्ध रूप से [आप] मुझे यज्ञ में अपना (=साथी, पत्नी) बना लेंगे [तो आप] सन्तान और पशुओं से बहुत [सम्पन्न] हो जायेंगे । निःसन्देह मेरे साथ में [आप] जिस किसी हितकामना की चाहना करेंगे वह सब तुम्हें अच्छी प्रकार सिद्ध हो जायगी (शब्दार्थ—खूब बढ़ जायगी) ।

इस का भाव यह है कि मुझे अपनी पत्नी बना कर मुझ से काम लो । मैं तुम्हारी शक्ति हूं । संसार में सब काम शक्ति से ही सिद्ध होते हैं । अतः मेरे से तुम्हारी सब ही इच्छाएं पूर्ण हो जायेंगी । दूसरी ओर विवाह द्वारा ही सन्तान की प्राप्ति होती है । गृहस्थी होने पर ही मनुष्य संसार के कामों में आसक्त हो कर अनेक प्रकार के काम करता है और यज्ञरूप बनता है । अतः यह ब्राह्मण इस सुन्दर गल्प के द्वारा

मनुष्यों को ब्रह्मचर्य आश्रम में शक्ति संगृहीत कर के गृहस्थ में प्रवेश करने, विवाह करने, संतान उत्पन्न करने तथा धन कमाने की शिक्षा दे रहा है।

[मनु ने] [उस की प्रार्थना और आग्रह पर] उस [इडा] को यज्ञ के बीच में अपना अङ्ग बना लिया। निःसन्देह यज्ञ का बीच यही है जो प्राण (प्रयाज) और अपान (अनुयाज) के बीच में है ॥६॥

भाव यह है कि मनु ने उस शक्ति को अपना अङ्ग बना लिया और उस से शक्तिसम्पन्न हो कर वह यज्ञ (= अच्छे-अच्छे कर्म) करने लगा। समस्त कर्मों का केन्द्र प्राण और अपान के बीच में स्थित है। अतः मनु ने उस शक्ति से प्राण और अपान के बीच में स्थित इस कर्मों के केन्द्र को शक्तिशाली बना दिया।

ताम्.........इति

३. **टिप्पणियां—भगवति**—भग ऐश्वर्य को कहते हैं। अतः ऐश्वर्यशालिनी देवी, कल्याणी, भाग्यवती। यहां यह सम्बोधनरूप है। **अमूः** = अदस्—शब्द का स्त्रीलिङ्ग द्वितीया बहुवचन। **आहुतीः**—आहुति का द्वितीया बहुवचन। मति के समान रूप बना है। **अहौषीः**—√हु + लुङ् मध्यम पुरुष एक वचन। हवन किया था। **दधि, मस्तु**—दोनों द्वितीया के एक वचन हैं और 'अहौषीः' क्रिया के कर्म हैं तथा 'आहुतीः' पद का व्याख्यान हैं। **अजीजनथाः**—√जन् + णिच् + लुङ् मध्यम पुरुष एक वचन। **आशीः**—भलाई की कामना। **मा**—अस्मद् का द्वितीया के एक वचन का दूसरा रूप। साधारण रूप **'माम्'** होता है। **अवकल्पय**—अव + √क्लृप् + णिच् + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। अङ्ग बनाओ। **मया**—यहां पर 'सह' का अध्याहार करना चाहिए। मेरे साथ। मेरे साहचर्य में अर्थात् मुझ से युक्त हो कर। **आशासिष्यसे**—आ + √शास् + णिच् + लृट् मध्यम पुरुष एक वचन।

ते=तव। तुम्हारी। **समर्धिष्यते**—सम्+√ऋध् (बढ़ना) (दिवादि) +लृट् प्रथम पुरुष एक वचन। इस के रूप—ऋध्यति। ऋध्येत्। ऋध्यतु। आर्ध्यत् (लङ्)। आनर्द्ध (लिट्)। अर्धिष्यति। आर्द्धत् आर्द्धताम्, आर्द्धन् (लुङ्)। ईर्त्सति (सन्नन्त)। अर्धयति (णिजन्त) और अर्धित्वा बनते हैं। यहां आत्मनेपद का प्रयोग वैदिक है। इसे कर्म-व्यतिहार का प्रयोग मान कर भी आत्मने पद आया माना जा सकता है।

ताम्.........प्रयाजानुयाजान्

एतत्—यहाँ 'एताम्' के लिए आया है। उस मैत्रावरुणी, मानवी, पिब्दमाना इडा को। **अवाकल्पयत्**—अव+√क्लृप्+णिच्+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **प्रयाजानुयाजान्**—ऐतरेय, कौषीतकि, शतपथादि ब्राह्मणों के मत में—'प्राणा वै प्रयाजाः' और 'अपाना अनुयाजाः' अर्थात् प्रयाज=प्राण और अनुयाज=अपान हैं। अतः प्रयाजानुयाजान् का अर्थ प्राण और अपान है। इस अर्थ की पुष्टि 'प्राणा वै प्रयाजानुयाजाः' (शतपथब्राह्मण १४।२।२।५१)—प्राण ही प्रयाजानुयाज हैं, तथा 'प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः' (शतपथब्राह्मण १।४।२।१७ आदि)—घी पीने वाले देवता ही प्रयाजानुयाज हैं' से भी होती है। भाष्यकार सायण ने 'प्रयाजाः' का अर्थ इस नाम के मन्त्र और 'अनुयाजाः' का अर्थ 'घी की आहुति' रक्खा है। यह अर्थ मध्य काल की विकृत याज्ञिक मनोवृत्ति को बताता है तथा भाष्यकार के ब्राह्मण के मूल भावों के अनवबोध का परिचय देता है। वास्तव में यह सम्पूर्ण आख्यायिका काल्पनिक और आलंकारिक है। ब्राह्मण ने स्वयं इस का निर्देश किया है। कुछ आधुनिक वैदिक विद्वान् मध्यकालीन शैली के पीछे चलते हुए लेख के पूर्वार्ध को ले लेते हैं और उत्तरार्ध की उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार वे मनमाने निष्कर्ष निकालते रहते हैं।

४. तयाऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे, येयं मनोः प्रजातिर् याम्वेनया काञ्चाऽऽशिषमाशास्त साऽस्मै सर्वा समार्द्ध्यत ॥१०॥

४. सन्तान का इच्छुक [वह मनु] उस [इडा] के साथ पूजा करता हुआ और कष्ट झेलता हुआ रहने लगा। उस [इडा] के साथ [उस ने] इस प्रजा को उत्पन्न किया जो यह मनु की प्रजा [कहलाती है।] लालसा से [प्रेरित हो] (अथवा उस के साथ) उस [मनु] ने जिस किसी हितकामना की चाह की वह सब उसे पूर्ण रूप में प्राप्त हो गई ॥१०॥

४. प्रजातिम् — प्र + √जन् + क्तिन् । द्वितीया एक वचन। प्रजाओं को । **प्रजज्ञे**—प्र + √जन् + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। यहां णिजन्त का भाव अभीष्ट है । **वेनया**— वेना से तृतीया एक वचन । कामना से, लालसा से, इच्छा से । 'याम्वेनया' का पदच्छेद 'याम्' उ एनया' भी किया जा सकता है । **एनया**—इदम् पद का स्त्रीलिंग तृतीया एक वचन है । इस पदच्छेद से अर्थ यद्यपि पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इस में उत्कट अभिलाषा का भाव नष्ट हो जाता है । बिना उत्कट अभिलाषा के मनुष्य कर्मों में अपनी इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता है । अतः 'यां वेनया' यही पदच्छेद अच्छा है। **आशास्त**— आ + √शास् + लङ् प्रथम पुरुष एक वचन ।

५. सैषा निदानेन यदिडा । स यो हैवं विद्वानिडा चरत्येताँ हैव प्रजातिं प्रजायते, यां मनुः प्राजायत । याम्वेनया काञ्चाऽऽशिषमाशास्ते, साऽस्मै सर्वा समृद्ध्यते ।

५. चिह्नों से [निश्चय किया जा सकता है] कि वह [स्त्री] यह [ही है।] जो इडा [पात्र में रखी हुई सामग्री है।]

निःसन्देह जो इस प्रकार जानने वाला है और इडा के साथ रहता है वह निःसन्देह उसी संतान को उत्पन्न करता है जिस को मनु ने पैदा किया और उत्कृष्ट इच्छा से (अथवा उस के द्वारा) जिस किसी हितकामना की चाह करता है [उस की] वह सब [हितकामना] सम्पूर्ण रूप से फलती फूलती है ॥ ११ ॥

५. टिप्पणी—निदानेन—पहचान से, चिह्नों से ॥११॥

भाव यह है कि जो व्यक्ति यज्ञ में आहुति डाल कर अपने स्वार्थ का त्याग कर दूसरों का उपकार करने की भावना रखता है उस की सब शुभ कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यही भाव वसिष्ठ धर्मसूत्र २९।१ के 'दानेन सर्वान् कामान् अवाप्नोति'—दान से सब कामनाओं को प्राप्त करता है—में है।

[शतपथब्राह्मणे १।८।१।७—११]

.५.

शुनःशेपाख्याने
वरुणस्य तितिक्षा

कथा का प्रयोजन और भाषा

१. यह कथा राजसूय यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। देखने में इस में मानव की बलि का आभास मिलता है, परन्तु ऐसी बलि यहां न दी गई है, न अभीष्ट है। वस्तुतः अजीगर्त सौयवसि

स्वार्थपरता का और शुनःशेप परोपकार, लोककल्याण और राष्ट्रहित का द्योतक हैं। आख्यान शब्द का अर्थ—'आ समन्तात् समग्ररूपेण वा ख्यायते—वर्ण्यते प्रस्तूयते वा'—अर्थात् जो समग्रता से—स्पष्टता से वर्णित किया जाय—रक्खा जाय, वह आख्यान है। इस का एक पर्याय 'इतिहास' ('इति ह आस'—इस प्रकार प्रस्तुत किया है—वर्णित किया है) है। अतः आख्यान किसी तथ्य को रोचक, कहानी के रूप में वर्णित करने को कहते हैं। देवताओं और सृष्टि से सम्बन्ध के कारण इन्हें पुराकथा भी कहते हैं।

२. इस कथा में वाक्य पूरे पूरे नहीं हैं। बहुत सा भाव अध्याहार द्वारा स्पष्ट और पूर्ण किया जाता है।

शुनःशेपाख्याने वरुणस्य तितिक्षा

शुनःशेप के आख्यान में वरुण की सहनशीलता

१. अथैनमुवाच वरुणं राजानमुपधाव—"पुत्रो मे जायतां, तेन त्वा यजा" इति।

१. अर्थ—अब उस [राजा हरिश्चन्द्र] को [नारद ने] कहा—कि राजा वरुण की [शरण में] जाओ [और प्रार्थना कर कहो] कि 'मेरे लड़का हो जाए, उस से तुम्हारे लिए यज्ञ करूंगा।'

१. टिप्पणियां—उपधाव—उप+√धाव् + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। यजा इति—यजै+इति। यजै—√यज्+लोट् उत्तम पुरुष एक वचन।

[हरिश्चन्द्रः] * २. "तथे"ति ।

[हरिश्चन्द्रः] स वरुणं राजानमुपससार—'पुत्रो मे जायतां, तेन त्वा यजा" इति ।

[वरुणः] "तथे"ति ।

तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम । इति ।

[वरुणः] तं होवाच—"अजनि वै ते पुत्रः । यजस्व मानेने"ति ।

अर्थ—[हरिश्चन्द्र] "बहुत अच्छा" [कह कर मान गया] ।

[हरिश्चन्द्र] वह राजा वरुण के पास गया—'मेरे पुत्र हो जाए । उस से मैं तुम्हें यज्ञ करूंगा ।'

[वरुण]--[वरुण ने उस की बात मानते हुए कहा] 'बहुत अच्छा' । उस [हरिश्चन्द्र] को एक पुत्र उत्पन्न हुआ [जिस का] नाम रोहित [था] ।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—"तुझे पुत्र हो गया है । मुझे इस से [अर्थात्—इस को] यज्ञ कर दो [=बलि दे दो ?]"

२. टिप्पणियां—उपससार—उप+√सृ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । जज्ञे—√जन्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । अजनि—√जन्+कर्मवाच्य+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन । यजस्व—√यज्+

---

* इस सम्पादन में संस्कृत और हिन्दी अनुवाद में बाईं ओर [ ]–इन कोष्ठकों में कहानी में संवाद की उक्तियों के वक्ताओं के नाम दिए गए हैं । ये नाम मूलपाठ के अंश नहीं हैं । सम्पादक द्वारा भाव को स्पष्ट करने के अभिप्राय से जोड़े गए हैं ।

लोट् मध्यम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । मा—अस्मद्+द्वितीया एक वचन पुल्लिग ।

[हरिश्चन्द्रः] ३.—स होवाच—"यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति । निर्दशो न्वस्तु । अथ त्वा यजा" इति ।

[वरुणः]—"तथे"ति ।

[वरुणः]—स ह निर्दश आस । तं होवाच—"निर्दशोन्वभूद् ; यजस्व माऽनेने"ति ।

[हरिश्चन्द्र] ३. अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला [अर्थात्–उस ने उत्तर दिया]—जब पशु दस दिन के ऊपर का हो जाता है [शब्दार्थ–दस दिन पार कर लेता है ।] तब [ही] वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस लिए] इसे दस दिन का हो जाने दो । तब तुम्हारे लिए यज्ञ करूंगा ।"

[वरुण]—[वरुण ने मानते हुए कहा] ऐसा [ही हो] ।

[वरुण]—वह [रोहित] दस दिन पार कर चुका [अर्थात् दस दिन का हो गया ।] [उस वरुण] ने उस [राजा हरिश्चन्द्र] से कहा—"निःसन्देह यह दस दिन का हो गया है । [अब तो] इस से मुझे यज्ञ करो ।"

३, टिप्पणियां—पशुः—जो देखता है, या जिसे देखते हैं, वह पशु कहलाता है । पुरुष, अश्व, गाय, भेड़, बकरी—ये पांच पशु हैं । यज्ञ=देवपूजा, संगतिकरण, और दान के योग्य सशक्त और समर्थ प्राणी हो सकता है । अतः हरिश्चन्द्र इस प्रकार कह कर रोहित के युवक होने तक वरुण को मनाता रहता है, और वरुण भी मानता

रहता है। निर्दशः—निष्क्रान्तः निर्गतः वा दशभ्यः दिनेभ्यः—दस दिनों से पार गया हुआ, अतः दस दिन की आयु का। इस से पहले अशौच का काल भी होता है। मेध्यः—√मेध्+ण्यत्+पुंल्लिग प्रथमा एक वचन। √मेध् के अर्थ मेधा, हिंसा और संगम (मिलन) हैं। सामान्यतः इस के अर्थ 'पवित्र होने, हिंसा करने योग्य' होते हैं। बलि से पूर्व भी है। संगमन—मिलना यज्ञकर्म है। आस—√अस् होना+लिट् लकार प्राणी को शुद्ध किया जाता प्रथम पुरुष एक वचन। अभूत्--√भू+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन।

[हरिश्चन्द्रः] ४. स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ता जायन्ते-ऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य जायन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथे"ति। इति।

तस्य ह दन्ता जज्ञिरे।

[वरुणः] तं होवाच—"अज्ञत वा अस्य दन्ताः। यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्र] ४. अर्थ—उस [हरिश्चन्द्र] ने उत्तर दिया—'जब पशु के दांत निकल आते हैं, तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दांत आ जाएं। तब [मैं] तुम को यज्ञ करूंगा।"

[वरुण]—[वरुण ने कहा]–'बहुत अच्छा'।

उस के दांत निकल आए।

उस [हरिश्चन्द्र] को [वरुण ने] कहा—"इस के दांत निकल आए हैं। इस [रोहित] से मुझे [अर्थात् मेरे लिये] यज्ञ करो।"

४. टिप्पणियां—वै—निश्चयद्योतक अव्यय है। सामान्यतः वाक्य में इस का अर्थ नहीं किया जाता है। जज्ञिरे—√जन्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। अज्ञत—√जन्+लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन।

[हरिश्चन्द्रः] ५. स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पद्यन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथेति" इति।
तस्य ह दन्ताः पेदिरे।

[वरुणः] तं होवाच—"अपत्सत वा अस्य दन्ताः। यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्रः] स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथेति" इति।
तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे,

[वरुणः] तं होवाच—"अज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ताः यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्र]-५. अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला—'निःसन्देह जब पशु के [दूध के] दांत गिर जाते हैं, तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दांत गिर जाएं। तब [मैं] तुम को यज्ञ करूंगा।"

[वरुण] [वरुण मान गया कि] 'बहुत ठीक'।

उस [रोहित] के [दूध के] दांत गिर गए।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र से फिर] कहा—"इस [रोहित] के दांत गिर गए हैं। [अब] इस [रोहित] से मेरे लिए यज्ञ करो।"

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [फिर टलाते हुए] कहा—'नि सन्देह जब पशु के दांत निकल आते हैं, तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दांत फिर निकल आने दो। तब [मैं] तुम्हें उस [रोहित] से यज्ञ कर दूंगा।

[वरुण]—[वरुण मान गया]—'बहुत अच्छा।'

उस [रोहित] के दांत फिर निकल आए।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] से [फिर] कहा—"इस के दांत फिर निकल आए हैं। [अब] मेरे लिए इस से यज्ञ करो।"

५. टिप्पणियां—पद्यन्ते—√पद् जाना से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन। इस में अव+√पद् का भाव अभिप्रेत है। 'अव' उपसर्ग का प्रयोग नहीं किया गया है, क्यों कि √पद् बिना उपसर्ग के भी 'गिरना' अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ है। पद्यन्ताम्—√पद्+लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन। पेदिरे—√पद्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। अपत्सत—√पद्+लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन।

[हरिश्चन्द्रः] ६. स होवाच—"यदा वै क्षत्रियः सांनाहुको भवति, अथ स मेध्यो भवति। संनाहं नु प्राप्नोतु। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथेति" । इति ।
स ह संनाहं प्रापत् ।

[वरुणः) तं होवाच—"संनाहं नु प्राप्नोद्, यजस्व माऽनेने"ति ।

(हरिश्चन्द्रः) 'स तथे"त्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास—
'ततायं वै मह्यमदाद्धन्त, त्वयाऽहमिमं यजा इति ।" इति ।

(रोहितः) स ह "ने"त्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ ।
स संवत्सरमरण्ये चचार ॥२॥

[हरिश्चन्द्र]—६. उस [हरिश्चन्द्र] ने [फिर] टलाते हुए | कहा—'निःसन्देह जब क्षत्रिय शस्त्रधारी हो जाता है, तब वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस बालक को] शस्त्र-[ज्ञान] प्राप्त कर लेने दो । तब [मैं] इस से यज्ञ कर दूंगा।"

[वरुण]—स्वीकार करते हुए वरुण ने कहा]—'अच्छा' ।
उस [रोहित] ने शस्त्र-[ज्ञान] प्राप्त कर लिया ।

[वरुण]—[वरुण ने अब फिर] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—'निश्चय से [इस रोहित ने अब तो] शस्त्र-[ज्ञान] प्राप्त कर लिया है । [अब] इस से मेरे लिये यज्ञ करो ।

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [अब आगे टलाने का बहाना न पा कर] 'अच्छा' यह कह कर पुत्र को बुलाया [और कहा] ।

[हरिश्चन्द्र]—"प्रिय [पुत्र] ! इस वरुण ने ही [तुम को] मुझे दिया था। अहो ! इस लिए [मैं] तुम्हारे से इस के लिए यज्ञ करूंगा [अर्थात्—यज्ञ में तुम्हें इस की बलि चढ़ाऊंगा]।

[रोहित]—वह [रोहित]—'नहीं' [ऐसा नहीं हो सकता] यह कह कर धनुष ले कर जंगल में भाग गया [शब्दार्थ—चला गया]। वह वर्ष भर जंगल में घूमता रहा।

६. टिप्पणियां—सांनाहुकः—संनद्धुं वा संनाहं प्राप्तुं वा धारयितुं वा शीलमस्यास्ति इति। सम्+√नह्+उकञ्+पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन। शस्त्र धारण करने का स्वभाव—सामर्थ्य, अतः शस्त्रज्ञान। **प्रापत्**—प्र+√आप्+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **प्राप्नोत्**—प्र+√आप्+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **आमन्त्रयामास**—आ+√मन्त्र्+णिच्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। इस रूप में √अस् होना का लिट् लकार का रूप प्रयुक्त किया गया है। ऐसे धातुओं के आगे √कृ और √भू के भी लिट् लकार के रूप प्रयुक्त किये जा सकते हैं। **अदात्**—√दा+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। **उपातस्थौ**—उप+आ+√स्था+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। **संवत्सरम्**—एक वर्ष, एक साल तक। निरन्तर कार्य चालू रहने के कारण काल वाचक पद संवत्सर में द्वितीया आई है। **चचार**—√चर्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

[ऐतरेय ब्राह्मणे ३३।२]

[इस से आगे की कथा पहले २. चरैवेति में दी जा चुकी है।]

.६.

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली

उपनिषद्

१. आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण काल के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से जब लोग ऊब गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषदों के रूप में व्यक्त हुई। अतः उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद की रचनाएँ हैं। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। उपनिषद् वेदों के आध्यात्मिक स्थलों के ही व्याख्यान मात्र हैं। इन का प्रधान विषय ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा उन के सम्बन्ध का विवेचन है। श्री कुमारस्वामी ने तो अपने ग्रन्थ 'A New Approach to the Study of Veda' में उपनिषदों की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छै दर्शनों के मूल स्रोत मानेजाते हैं।

२. प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं। कुछ स्वतंत्र भी हैं। वैसे तो आज असंख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् हैं—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतकि, प्रश्न, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और श्वेताश्वतर। समस्त उपनिषदों को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम—इन चार भागों में

बांटा जा सकता है। उपनिषदों की भाषा बड़ी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहां क्लिष्टता तो प्रायः नाममात्र को भी नहीं है। उन में ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषों का प्रायः प्रायः अभाव है। वास्तव में भावों की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टिकोण से अर्वाचीन ही हैं। इन में कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में और कुछ मिश्रित हैं। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत नहीं। सम्भवतः उपनिषद्-निर्माणकाल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३. तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखता है। यह तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। यह उपनिषद् एक लोकप्रिय कृति है और अपनी उच्च नैतिक शिक्षाओं, अध्यात्मविद्या और पञ्चकोशों के सिद्धांत के कारण बड़े महत्त्व का है।

सार

४. प्रथम भाग में पांच महायज्ञों की महिमा बताई है। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ और भूतयज्ञ अवश्य करने चाहिए। प्रधान बल तप, सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन पर दिया गया है। अंतिम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है॥ [अनुवाक ९]।

५. अब विद्यार्थी वेद पढ़ चुका। वह संसार में प्रवेश करने के लिये जाना चाहता है। उस का समावर्तन संस्कार होता है। उस समय—विदा के काल में—गुरु अपने प्रिय शिष्य को सांसारिक व्यवहार में काम आने वाली मुख्य-मुख्य शिक्षाओं का पुनः उपदेश करते हुए कहता है कि सत्य बोलना, धर्म पर चलना, स्वाध्याय करना। कुशल और उन्नति का ध्यान रखना। संतान की पालना

करना ॥३॥ माता, पिता, अतिथि, आचार्य और विद्वानों की सेवा करना। उन के गुण ग्रहण करना, दोषों की उपेक्षा करना ॥४॥ श्रेष्ठ विद्वानों का आदर करना। हर प्रकार से दान करना ॥५॥ जब कर्म के सम्बन्ध में कुछ संदेह हो तो निःस्वार्थ, धार्मिक, प्रियवादी, विचारशील और कर्त्तव्यपरायण ब्राह्मणों का अनुकरण करना। यही अंतिम उपदेश है। [अनुवाक ११]

महत्त्व

६. यह उपदेश आज भी प्रत्येक विद्यार्थी को मिलना चाहिये। दीक्षान्त भाषणों में ऐसे ही उपदेशों की आवश्यकता है। कुछ विश्वविद्यालयों ने दीक्षान्त समारोहों में इसे उपकुलपति की प्रेरणा और आदेश के रूप में ग्रहण किया भी है।

.७.

मूल, अर्थ और टिप्पणियां

तपः

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः ॥
तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः ॥
स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः ॥
तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥६॥
इति नवमोऽनुवाकः ॥९॥

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा की वल्ली

तप

अर्थ—ऋत [शास्त्रादि द्वारा बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ अथवा वेदाध्ययन अथवा नियम और अनुशासन-Law and order अथवा ईश्वर का ज्ञान] तथा स्वाध्याय (शास्त्रों का पढ़ना) और प्रवचन [अध्यापन अथवा वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ] [ये अनुष्ठान करने योग्य हैं]। सत्यभाषण, शास्त्राध्ययन, अध्यापन और वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ [करने चाहिएं।] तप (क्लेश का सहना), शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन [करता रहे]। इन्द्रियों को वश में करना, स्वाध्याय और प्रवचन [सदैव करता रहे]। मनोनिग्रह और स्वाध्याय तथा प्रवचन [ये सदा करने चाहिएँ]। अग्नि की स्थापना, और स्वाध्याय और प्रवचन [ये नित्य करने चाहिएं]। हवन, शास्त्रों का पढ़ना और उपदेश

[करते रहना चाहिए]। [अतिथिसत्कार] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन को नियम से करना चाहिए]। मानुषकर्म (विवाह आदि लौकिक व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [करने योग्य हैं]। प्रजा [उत्पन्न करना] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सदा करने चाहिएं। ऋतुकाल में पत्नी से समागम (प्रजन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [कर्तव्य कर्म हैं]। पौत्रोत्पत्ति (प्रजाति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [नियम से करता रहे] सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतर का पुत्र सत्यवचा [मानता है]। तप [ही नित्य कर्म है] ऐसा नित्य तपस्वी पौरुशिष्टि [का मत है]। स्वाध्याय और प्रवचन ही [नित्य कर्म हैं] ऐसा मुद्गल के पुत्र नाक का मत है। अतः ये (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं।

भाव

इस भाग में वर्णित पांच महायज्ञों-ब्रह्मयज्ञ (ऋतम्, सत्यम्, तपः, दमः, शमः स्वाध्यायः और प्रवचनम्), देवयज्ञ (अग्नयः, अग्निहोत्रम्, स्वाध्यायः और प्रवचनम्), अतिथियज्ञ (अतिथयः, मानुषम्, स्वाध्यायः, प्रवचनम्), पितृयज्ञ (मानुषम्, प्रजा, प्रजनः, प्रजातिः, स्वाध्यायः, प्रवचनम्), भूतयज्ञ (तपः, दमः, शमः, प्रजा, प्रजातिः, स्वाध्यायः, प्रवचनम्)— का बड़ा महत्त्व माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने इन पर बड़ा बल दिया है। इन के विशेष वर्णन और महत्त्व के लिए देखो दयानन्दकृत पञ्चमहायज्ञविधि।

स्वामी दयानन्द का अनुवाद

इस भाग का स्वामी दयानन्द द्वारा किया गया अनुवाद बड़ा सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है। वह नीचे दिया जाता है। ऊपर का अनुवाद गोरखपुर के शाकंर भाष्य के अनुवाद के आधार पर किया गया है।

ऋतं च···अग्निहोत्रं च० ।—

हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर। सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर। हर्ष शोकादि छोड़, प्राणायाम, योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर। अपनी इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा, अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक [आहवनीय अग्नि और विद्युत् आदि को जान के—सत्यार्थप्रकाश] विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। (संस्कारविधि)

इस भाग का सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में दिया हुआ अर्थ भी अच्छा है। वहां ऋतम्, सत्यम् आदि को क्रियाविशेषण लिया है। जिज्ञासु विद्यार्थी वहां से देख लें।

अतिथयश्च...प्रजातिश्च...च—

"अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को करते हुए पढ़ते पढ़ाते रहें। सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जाएं। वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते और पढ़ाते जायें। अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जायें।" (सत्यार्थ प्रकाश)

सत्यमिति....तपः—

"सत्यवादी होना तप है यह सत्यवचा राथीतर आचार्य का, न्यायाचरण में कष्ट सहना तप है यह तपोनित्य पौरुशिष्टि आचार्य का, और धर्म में चल के पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाक मौद्गल्य आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत में

यही पूर्वोक्त तप है, यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ।" (संस्कारविधि)।

टिप्पणियां—ऋतं च--तपः—

ऋतम्—आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ 'Law and order'-नियम और अनुशासन करते हैं। ब्राह्मणों में आए इस के अन्य अनेकों अर्थों में 'वेद', 'ईश्वर', 'ओ३म्' यहां विशेष उपयोगी हैं। भाष्यकार शंकर ने इस का अर्थ 'शास्त्रों के ज्ञान से बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ' किया है। ऋषि दयानन्द ने इस का अर्थ 'सत्य धारण' किया है। **स्वाध्याय**—नियम के साथ निःस्वार्थ भाव से वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययन। यह नित्य कर्म है। **प्रवचन**—उपदेश, पढ़ाना। **दमः**—इन्द्रियों पर वश पाना। **शमः**—मन को वश में करना। **अग्नयः**—कर्मभेद से अग्नियों के कई भेद होते हैं। गृहस्थियों को उन का स्थापन करना अर्थात् उन का उपयोग करना आवश्यक है। अग्निस्थापन एक क्रिया का नाम है जिस में नया गृहस्थी घर में यज्ञकुण्ड में अग्नि रख कर उसे अपने गृहस्थकाल में अक्षुण्ण रखने और उस में हवन करने की प्रतिज्ञा करता है। **अग्निहोत्रम्**—आग जला कर मन्त्र पढ़ते हुए उस में घी, अन्न आदि सामग्री डालना हवन कहलाता है। इस से वायु की शुद्धि होती है। रोग दूर होते हैं तथा स्वार्थ-त्याग की भावना उत्पन्न होती है। **अतिथयः**—जो परम विद्वान्, सदाचारी, शुभचिन्तक हो तथा जिस के आने-जाने की तिथि न हो अथवा माननीय सम्बन्धी आदि हो उसे अतिथि कहते हैं। अतिथि का सत्कार न करना पाप का कारण होता है। अतिथि ही गृहस्थ के दोषों का विवेचन कर सकते हैं। अतः वे उसे शुभ मार्ग पर चला कर पुण्यवान् बना देते हैं। **मानुषम्**—मनुषस्य इदं मानुषम्। मनुष्यों के कर्म—विवाह आदि। **प्रजा**—सन्तानोत्पत्ति। **प्रजनः**—ऋतुकाल में पत्नी का संसर्ग। स्त्री को हर मास दूषित खून का स्राव होता है। इसे ही स्त्री का ऋतुमती होना कहा है।

ऐसा होने के ५वें दिन से १५ वें दिन तक के समय को ऋतुकाल कहते हैं। **प्रजातिः**—पोते की उत्पत्ति अर्थात्—पुत्र को योग्य बना कर उसे गृहस्थ कर्म में नियुक्त कर उस को पुत्र की उत्पत्ति के लिये प्रेरित करना। **सत्यवचाः**-सत्यं वचः यस्य सः। सत्य वाणी वाला। यहां यह एक ऋषि का नाम है। **राथीतरः**—रथीतरस्य अपत्यं पुमान् राथीतरः। रथीतर का पुत्र। **पौरुशिष्टिः**—पुरुशिष्टस्य अपत्यं पुमान्। पुरुशिष्ट का पुत्र। इस का नाम तपोनित्य है। तपोनित्य का अर्थ—तपसि नित्यः—तपोनिष्ठ है। **मौद्गल्यः**—मुद्गलस्य अपत्यं पुमान्। मुद्गल का पुत्र। इस का नाम नाक (शोकरहित) है।

(ii) आचार्यानुशासनम्

१. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ।—

२. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

३. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

४. सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

५. देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

६. यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।

७. यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥ नो इतराणि ।

८. ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ।

९. श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

१०. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ॥

११. अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः ।

१२. एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

१. वेदम्........अनुशास्ति—

अर्थ १. वेद को पढ़ा कर (अर्थात् पढ़ाने के पश्चात्) आचार्य आश्रम में रहने वाले (शिष्य) को उपदेश देता है :—

२-३. सत्यं..........व्यवच्छेत्सी:—

अर्थ—२-३, सत्य बोल। धर्म का आचरण कर [स्वाध्याय से प्रमाद न कर [अर्थात् ज्ञानोपार्जन में अविरत लगे रहो]। आचार्य के लिये प्रिय (अभीष्ट) धन ला कर [अर्थात्-गुरुदक्षिणा दे, यहां से विदा ले कर विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तथा] सन्तान परम्परा का छेदन न करो।

भाव यह है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रयत्न करो। क्यों कि जब तक सन्तान उत्पन्न कर के उसे योग्य नहीं बना देते तब तक तुम पितृऋण से उऋण नहीं हो सकते। तथा देश के लिए और जाति के लिए भी संतान उत्पन्न करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

नोट—इस का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—अपनी सामर्थ्य से बाहर आचार्य के लिये अभीष्ट धन दे कर अपनी सन्तान को दुःख में न डालना। यदि थोड़ी आय हो तो आचार्य को थोड़ा ही धन ला कर देना।

४. सत्यात्........धर्मात् ....प्रमदितव्यम्।—

अर्थ—४. सत्य से प्रमाद न करना चाहिये। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

भाव—सत्य वद और धर्म चर में आदेश दिया था कि झूठ और अधर्म का परित्याग कर सत्य और धर्म का सेवन करो। पुनः दूसरे शब्दों में उसी बात को यहां कहने का अभिप्राय है कि चाहे कितने ही कष्ट और विपत्तियां आएँ तुम को सत्य और धर्म युक्त व्यवहार ही करना चाहिये। उसे कभी न छोड़ना चाहिए। यौवन, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्व के प्रभाव से असत्य और अधर्म व्यवहार न करना। तथा चाहे दूसरे लोग तुम्हारे साथ छल कपट आदि का प्रयोग करें तो भी तुम उन के प्रति ऋजु ही रहना क्यों कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्'

और 'धर्मो रक्षति धार्मिकम्'। अतः अन्त में सत्य और धर्म की ही विजय होगी।

कुशलात् न प्रमदितव्यम्—

अर्थ—कुशल [आत्मरक्षा में उपयोगी] कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए.

भाव—गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—योगः कर्मसु कौशलम्। इसी कौशल की ओर ऊपर के उपनिषद्-वाक्य में निर्देश है। क्योंकि जब तक कर्म सुप्रकार नहीं किया जायगा यथेष्ट फल नहीं देगा। कर्म करने के लिये ज्ञान का होना अत्यन्त आवश्यक है। तभी कौशलपूर्वक कर्म कर के मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है। इस विषय में वेद कहता है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

'जो कर्म और ज्ञान को साथ-साथ, जानता है वह कर्म से मृत्यु को जीतता है और ज्ञान से मोक्ष पाता है। इसी वेदादेश का यहां वर्णन किया है। अतः जो भी कार्य किया जाय बहुत सोच-विचार कर किया जाए। इसी भाव को चाणक्य ने 'आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि' में रक्खा है।

भूत्यै न प्रमदितव्यम्—

अर्थ—भूति [अर्थात् ऐश्वर्य देने वाले माङ्गलिक कर्मों] से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

भाव—मनुष्य को उत्तरोत्तर उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। जो भी अवसर प्राप्त हो उस का समुचित उपयोग करे। अवसर को कभी भी हाथ से न खोए। परन्तु सब कुछ सत्य और धर्मयुक्त हो।

छल, कपट और पापपूर्ण उन्नति का तो निषेध ही है । ऐसी उन्नति भूति नहीं दुर्भूति है और कुफल देती है उस से सदैव बचे ।

स्वाध्याय........प्रमदितव्यम् —

अर्थ—स्वाध्याय [=वेद के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन] और प्रवचन [वेद के अध्ययन, मनन और अनुभूति का प्रचार, व्याख्यान आदि करना] से प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

भाव—स्वाध्याय से अपनी उन्नति कर के उपदेश द्वारा दूसरों की उन्नति किया करो ।

५-६. देव......भव—

अर्थ—५. देवकार्य और पितृकार्यों [अर्थात् देवयज्ञ और पितृयज्ञ] को नहीं छोड़ना चाहिये । तू माता की पूजा कर। पिता की पूजा कर । आचार्य की पूजा कर। अतिथि (अभ्यागत) की पूजा (आदर, सत्कार, सेवा आदि) कर ।

यानि........इतराणि—

अर्थ—६. जो अनिन्द्य अर्थात् निन्दारहित सुकर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिये । दूसरों का नहीं ।

७.—यान्यस्माकं......उपास्यानि—

[गीता में कहा है—"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" ।।—सब लोग उत्तम पुरुषों का अनुकरण करते हैं और उन्हें प्रमाण मानते हैं: इस सिद्धांत को ध्यान में रख कर आचार्य उपदेश देते हैं—]

अर्थ—७. हमारे [=अनुकरणीय हम गुरुजनों के] जो शुभ [अर्थात् सत्य और धर्मयुक्त तथा ऊपर के उपदेश और वेदादि के आदेश के अनुसार प्रमाणित और प्रशंसित] आचरण [कर्म]

हों तुझे उन्हीं की उपासना (अर्थात् सेवन, आचरण) करनी चाहिये । [इस आदर्श से हीन हमारे अन्य कर्मों की उपासना] नहीं [करनी चाहिये ।]

भाव—यहां ऋषि "गुरुवाक्यं ब्रह्मवाक्यम्" अथवा "गुरुरेव ब्रह्म" का खण्डन करते हैं । मनुष्य अशुद्धि करता है, भ्रम में पड़ता है–इस को मत भूलना । अतः उस के जो शुभ कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करना । अन्यों का नहीं ।

८. ये के च.........प्रश्वसितव्यम्—

[संसार में एक से एक उत्तम ज्ञानी भरे पड़े हैं । व्यक्तिविशेष ही सर्वज्ञ नहीं है । अतः हमारे से भी श्रेष्ठ विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता तुम्हें संसार में मिलेंगे । यह समझ कर कि हमारे आचार्य से श्रेष्ठ और कोई विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता पुरुष संसार में नहीं है उन अन्य विद्वानों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । कदाचित् वे तुम्हें प्रसन्न हो कर कुछ ज्ञान दे दें जिस के लिये तुम यत्न करते हो—इस उद्देश्य से ऋषि कहते हैं—]

अर्थ—८. जो कोई [आचार्यादि धर्मों से युक्त होने के कारण] हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ [विद्वान्] और ब्रह्म [वेद और परमात्मा] के जानने वाले हों, उन का आसनादि के द्वारा तुझे आश्वासन [थकान] दूर करना पूजा सत्कार और आदर करना चाहिए] ।

६. श्रद्धया......संविदा देयम्—

अर्थ—६-श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये । अपनी शक्ति के अनुसार देना चाहिए। लज्जापूर्वक (अर्थात् विनय से विनम्र हो कर) देना चाहिये । (धर्म के) भय से चाहिये । दयाभाव और मित्रभाव से देना चाहिये ।

भाव—हमारे शास्त्रों में दान की बड़ी महिमा कही गई है। दान समाज की स्थिति के लिये आवश्यक है। भूखे को अन्न मिलने पर, नंगे को वस्त्र मिलने पर तथा ज्ञानार्थी को ज्ञान मिलने पर संसार के बहुत से दुख दूर हो जाते हैं। भूखा पेट भरने के लिये चोरी आदि दुष्कर्म करेगा। अज्ञानी अन्धकार से संतप्त हो अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएं समाज में उत्पन्न करेगा। अतः दान करना चाहिये परंतु वह श्रद्धापूर्वक किया जाए। अश्रद्धा से दिया हुआ दान तामस होता है। देखो गीता १७।२२।

हमारे शास्त्रों में श्रद्धा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद में श्रद्धा पर एक पूरा सूक्त है। गीता और महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने श्रद्धा की महिमा गाई है। कहा है—

'अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥'

जो दान शक्ति से बाहर दिया जाता है वह कुल में तथा अपने हृदय में क्लेश उत्पन्न करता है। धनाभाव से मनुष्य पापवृत्ति भी हो जाता है। तथा 'प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः' इस उपदेश का अतिक्रमण हो जाता है जो पाप का कारण बनता है।

विनय की भी बड़ी महिमा है—'विनयाद्याति पात्रताम्'। अपि च—विनयरहित दान तामस होने के कारण कुफल देता है और बंधन का कारण होता है।

शास्त्रों में दया और मित्रभाव के उपदेश स्थल-स्थल पर मिलते हैं। दयावान् ही ब्रह्म को जानने का वास्तविक अधिकारी है। यजुर्वेद का उपदेश है कि—'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'—हम सब को मित्र समझें।

अतः दान उक्त उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए।

१०-११. अथ........वर्तेथाः-

किसी विषय में संदेह होने पर उसे दूर करने का उपाय बताते हुए आचार्य अनुशासन को समाप्त करते हैं।

अर्थ—१०. यदि तुझे कर्म या आचार के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ जो विचारशील, कर्म में नियुक्त [अन्यों द्वारा किसी कर्म में लगाए हुए], आयुक्त [अपनी इच्छा से कर्मपरायण], अरूक्ष (सरल मति), एवं धर्माभिलाषी ब्रह्मवेत्ता विद्वान् हों, उस [प्रसंग] में वे जैसा व्यवहार करें वैसा [ही तू भी] करना।

११. इसी प्रकार जिन पर संशययुक्त दोष आरोपित किए गए हों उन के विषय में, वहाँ जो विचारशील कर्म में नियुक्त अथवा आयुक्त [दूसरों से प्रेरित न हो कर स्वतः कर्म में परायण], सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे उन में जैसा व्यवहार करें तू भी उन में वैसा ही करना।

१२. एष.......उपास्यम्—

अर्थ—१२. यह आदेश [विधि है]। यह उपदेश [है]। यह वेद का रहस्य (उपनिषत्) [है]। [और] यही [आचार्य की] आज्ञा [है]। इसी प्रकार [तुझे] उपासना करनी चाहिए। ऐसा ही यह आचरण करना चाहिए॥

१-४—टिप्पणियां—अनूच्य-अनु + √वच् + ल्यप्। उपनयन संस्कार के बाद पढ़ा कर। अन्तेवासिनम—अन्ते वासी, तम्। इस का दूसरा रूप अन्तवासी' होता है। अनुशास्ति—अनु + √शास् + लट् प्रथम पुरुष एक वचन। मा प्रमदः—मा के योग में लुङ् लकार आता है और उस के प्रारम्भिक 'अ' का लोप हो जाता है। अतः प्रमदः—प्रामदः। प्र + √मद् + लुङ् मध्यम पुरुष एक वचन। वोपदेव के मत में

अमदीत् और अमादीत् रूप भी बनते हैं। **आहृत्य**—आ+√हृ+ल्यप्। ला कर। **प्रजातन्तुम्**—सन्तान की परम्परा। तन्तु—धागा, सूत्र; अतः परम्परा। **व्यवच्छेत्सीः**—वि+अव+√छिद्+लुङ् मध्यम पुरुष एक वचन। 'मा' के कारण 'अ' का लोप हो गया है। **कुशलात्**-शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य। भाव यह है कि शारीरिक और मानसिक उन्नति में तत्पर रहना चाहिए। **भूत्यै**—पंचमी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग आर्ष है। प्रमाद के योग में पंचमी आती है। **भूति**—सांसारिक उन्नति, समृद्धि, ऐश्वर्य आदि।

५-७. **देवपितृकार्ये**—देवयज्ञ (अग्निहोत्र और स्वाध्याय तथा प्रवचन) और पितृयज्ञ (=सन्तानोत्पत्ति, स्वाध्याय और प्रवचन)। देखो प्रथम शिक्षा पर टिप्पणियां। शेष भाग में देव और पितृकार्यों की परम आवश्यक और स्थूल व्याख्या की है। **मातृदेवः**—माता देवः यस्य सः। माता को देवता—पूजनीय मानने वाला। अथवा—मातरं दीव्यति, माता की स्तुति करने वाला, या माता को आनन्द, तृप्ति आदि देने वाला। इसी प्रकार पितृदेवः आदि शब्द बनते हैं। **अनवद्यानि**—न+अवद्यानि अनवद्यानि। निन्दारहित। **अवद्य**—न+√वद्+क्यप्। न कहने योग्य, अप्रशंसनीय, निन्दित। **नो**—'न' के अर्थ में अव्यय है। **उपास्यानि**—उप+√आस्+य+नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एक वचन।

८. **अस्मच्छ्रेयांसः**—अस्मत्+श्रेयांसः। अस्मत्—यह अस्मद् शब्द का पंचमी का बहुवचन है। **प्रश्वसितव्य**—प्र+√श्वस्+तव्य। आराम देना चाहिए। थकान दूर करनी चाहिए।

९. **श्रद्धा**—श्रत्+धा। सत्य का धारण। सत्य भावना से अर्थात् सत्य मान कर। **भिया**—'भी' से तृतीया एक वचन। धर्मभय से। **संविदा**—मित्रता के भाव से। मनुष्यों को सदैव मित्रों का तो

उपकार करना ही चाहिए, पर साथ ही अन्यों का भी मित्रभाव से ही उपकार करना चाहिए। **देयम्**—√दा+यत्।

१०-११. **कर्मविचिकित्सा**—कर्मणि विचिकित्सा। सप्तमी तत्पुरुष। **विचिकित्सा**—वि+√कित्+सन्+आ। सन्देह। **वृत्त**—व्यवहार। **संमर्शिनः**—सम्+√मृश्—+इन्। पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन। विचारशील, विद्वान्, अनुभवी। **युक्ताः**—√युज्+क्त। अपने आप काम में लगे हुए। **आयुक्ताः**—दूसरों द्वारा काम में लगाए हुए। **अलूक्षाः**—अरूक्षाः। र और ल में भेद नहीं माना जाता है—रलयोरभेदः। जो रूखे नहीं अर्थात् मीठा बोलने वाले। **अभ्याख्यातेषु**—अभि+आ+√ख्या+क्त। दूसरों द्वारा निन्दा किए हुए। बुरे बताए हुए।

१२. **वेदोपनिषत्**—वेद का गुप्त ज्ञान—रहस्य। **अनुशासनम्**—शिक्षा, नियम। **एवमुपासितव्यम्**—यह द्विरुक्ति उपदेश की अनिवार्यता और महिमा को बताने के लिए की गई है। ऐसी द्विरुक्ति शिक्षा की समाप्ति को भी बताती है।

इस शिक्षा का ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में दिया गया अनुवाद भी देखने योग्य है।

.७.

ईशोपनिषत्

उपनिषद्

१. आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण काल के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से जब लोग ऊब गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषदों के रूप में व्यक्त हुई। अतः उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद की रचनाएँ हैं। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती । उपनिषद् वेदों के आध्यात्मिक स्थलों के ही व्याख्यान मात्र हैं। इन का प्रधान विषय ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा उन के सम्बन्ध का विवेचन है। श्री कुमार स्वामी ने तो अपने ग्रन्थ 'A New Approach to the Study of Veda' में उपनिषदों की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छै दर्शनों के मूल स्रोत माने जाते हैं।

२. प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं। कुछ स्वतन्त्र भी हैं। वैसे तो आज असंख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् हैं--ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतकि, प्रश्न, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और श्वेताश्वतर। समस्त उपनिषदों को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम--इन चार भागों में बाँटा जा

सकता है। उपनिषदों की भाषा बड़ी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहां क्लिष्टता तो प्रायः नाममात्र को भी नहीं है। उन में ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषों का प्रायः प्रायः अभाव है। वास्तव में भावों की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टिकोण से अर्वाचीन ही हैं। इन में कुछ गद्य में हैं, कुछ पद्य में, और कुछ मिश्रित हैं। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत नहीं। सम्भवतः उपनिषद्-निर्माण काल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३. यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं–शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं--माध्यन्दिन और काण्व। दोनों में चालीस-चालीस अध्याय हैं। काण्व संहिता का चालीसवाँ अध्याय ही ईशोपनिषद् कहलाता है। माध्यन्दिन संहिता के चालीसवें अध्याय से इस में अल्प से भेद है।

विस्तार

४. ईशोपनिषद् उपनिषदों में पर्याप्त प्राचीन है और ग्यारह प्रामाणिक उपनिषदों में से एक है। इस में अठारह श्लोक हैं। इन के पहले और इन की समाप्ति पर अन्त में फिर एक ही समान एक शान्तिपाठ भी पढ़ा जाता है—"पूर्णमदः पूर्णमिदम्" आदि।

विषय

५. इस उपनिषद् में छन्दोबद्ध रोचक और सरल शैली में ईश्वर, जीव तथा सृष्टिगत सुखों का संक्षिप्त, सारभूत, प्रेरक और क्रियात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस में कर्म और ज्ञान का, यथार्थ और अयथार्थ का समन्वय, आदर्श और

व्यवहार का सुन्दर सम्मिश्रण और क्रियात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है।

सार

६. यह समस्त संसार ईश्वर द्वारा व्याप्त है। वह जो भोग दे, उन्हें निर्लिप्त भाव से भोगता हुआ मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की कामना करता रहे। आत्मघाती जन अन्धकार से व्याप्त लोकों में जाते हैं। गतिहीन और अकेला होने पर भी वह परमात्मा सब की पहुंच से बाहर है। उस में विरोधी गुणों के युग्म भी हैं—वह गतिहीन, और गतिमान्, समीप और दूर में, अन्दर और बाहर-सर्वत्र है। वह ईश्वर रोगों और शरीर से हीन, शुक्र, पापहीन, शुद्ध, कवि, मनीषी, सब को वश में करने वाला और स्वयंभू है। वह व्यवस्था के अनुसार अनन्त काल के लिये अर्थों=पदार्थों का निर्माता है। अविद्या और विद्या, सम्भूति और असम्भूति में से किसी भी एक की एकान्ततः उपासना अनुचित है। दोनों युग्मों के अंगों में साथ-साथ समुचित रति चाहिए। तभी मृत्यु से तरण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वस्तुतः सत्य आकर्षक प्रलोभनों से ढ़का हुआ है। पूषा उस को खोल सकता है। उस की कृपा से उस के कल्याणतम रूप को देखा जा सकता है। मृत देह के जल जाने पर शरीरयात्रा समाप्त हो जाती है और प्राण वायु में मिल जाते हैं। अतः मनुष्य अपने कर्मों का और परमेश्वर का चिन्तन करे। परमेश्वर अग्नि मृत जीव को उत्तम मार्ग से मोक्ष की ओर ले जाए और मानव के पापों को नष्ट कर दे। वह सब कुछ जानने वाला है।

दर्शन

७. इस प्रकार यह उपनिषद् ईश्वर, जीव और जगत्-इन तीन तत्त्वों को आधार मान कर चलता है। यह न प्रलय की

कल्पना करता है, न सृष्टि की। मरने के बाद की स्थिति का भी कोई विशेष विस्तार या वर्णन नहीं किया गया है। नैतिक सदाचारी आदर्श जीवन से ही परमात्मा के दर्शन सम्भव हैं। अतः इस उपनिषद् का प्रमुख केन्द्र सदाचार है और इस का दर्शन एक-मात्र व्यावहारिक और क्रियात्मक है।

काल

८. इस का काल संहिताकाल से बहुत पीछे का मानना सम्भव नहीं। यह अध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों के युग से पहले ही यजुर्वेद में स्थान पा चुका था। अतः न्यूनतम यह १००० ई० पू० से पहले लिखा गया होगा। इस के रचयिता और उस की जीवनगाथा का कोई परिचय अब उपलब्ध नहीं है।

शान्तिपाठ का भाव

९. शान्तिपाठ उपनिषद् का अंश नहीं है। किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व जैसे मंगल किया जाता है, वैसे ही उपनिषद् के अध्ययन से पहले शान्तिपाठ किया जाता है। इस शान्तिपाठ में कहा गया है कि परमेश्वर पूर्ण है। उसी में से यह पूर्ण संसार निकलता है। परन्तु परमात्मा फिर भी पूर्ण ही रहता है।

मूल अर्थ और टिप्पणियां

१०. ईशोपनिषद् का शान्तिपाठ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अर्थ—(अदः) वह [परमेश्वर] (पूर्णम्) पूरा है। (इदम्) यह [जगत्] भी (पूर्णम्) पूरा है। (पूर्णात्) पूर्ण [परमात्मा] से (पूर्णस्य) पूर्ण [परमात्मा] की [पूर्णम्] पूर्णता को (आदाय) ले कर (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्] (उदच्यते) निकलता है। [तो भी वह परमात्मा] (पूर्णम्) पूरा (एव) ही (अवशिष्यते) बचा रहता है। (ॐ) ईश्वर (शान्तिः) आधिभौतिक (शान्तिः) आधिदैविक [और] (शान्तिः) आध्यात्मिक दुःखों से हमारी रक्षा करें।

टिप्पणियां—अदः—अदस्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। सामान्यतः अदस् से द्युलोक का और इदम् से पृथिवीलोक का बोध होता है। यहां अदः ईश्वर का और इदम् ब्रह्माण्ड का द्योतक हैं। उदच्यते—उद्+√अच्+कर्मवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। अवशिष्यते अव+√शिष्+कर्मवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। शान्तिः—तीन बार शान्तिः का प्रयोग त्रिविध दुःख—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक के निवारण की कामना का द्योतक है।

११. ईशोपनिषत्

१. ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

अर्थ—(जगत्याम्) संसार में (यत्) जो (किम् च) कुछ भी (जगत्) पदार्थजात [है] (इदम् सर्वम्) [वह] यह सब कुछ (ईशा) परमेश्वर से (वास्यम्) व्याप्त है। [अतः] (तेन) उस [परमेश्वर] द्वारा (त्यक्तेन) दिए हुए [पदार्थों, स्थितियों आदि] से [भुञ्जीथाः) [अपना-अपना] भोग प्राप्त करो। (कस्य) अन्य किसी के (स्वित्) भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत करो ॥१॥

टिप्पणियां—**ईशा**–ईश् से तृतीया एक वचन। **वास्य**—√वस्+ण्यत्। **इदं ँ सर्वम्**—इदम्+सर्वम्। यजुर्वेद में र्, श् और स् से पूर्व म् को गुं बोलते हैं और उसे मुद्रण की सुविधा के लिये ँ से द्योतित करते हैं। **जगत्याम्**—जगती+सप्तमी एक वचन। **जगती**—√गम्+अति। पृथिवी, चर सृष्टि। गतिशील होने के कारण पृथिवी को गो और जगती कहते हैं। **जगत्**—गच्छति इति जगत्। अथवा जंगमीति इति जगत्। गति करने वाला, चर। यह चराचर जगत् का उपलक्षण है। परन्तु ऐसा मानने को अपेक्षा 'सर्वे गत्यर्थाः प्राप्त्यर्था ज्ञानार्थाश्च (सब गमनार्थक धातुओं का प्राप्त करना और जानना अर्थ भी होते हैं) के अनुसार इसे प्राप्ति और ज्ञानार्थ मान कर 'ज्ञात और प्राप्त पदार्थ' अर्थ करना अधिक प्रकरणोचित है। **त्यक्त**—√त्यज्+क्त। छोड़े हुए, दिए हुए। साधन में तृतीया है। **भुञ्जीथाः**—√भुज् भोग करना+विधि लिङ् मध्यम पुरुष एक वचन। **मा गृधः**—मा के योग में अट्-हीन लुङ् का प्रयोग होता है। अतः अगृधः—√गृध्+लङ् मध्यम पुरुष एक वचन।—**स्वित्**—अव्यय है ॥१॥

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः॥

अर्थ—(इह) इस [लोक] में (कर्माणि) कर्म (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करता रहे। (त्वयि) तुम्हारे (एवम्) इस प्रकार [आचरण करने पर] (इतः) इस [मार्ग से] (अन्यथा) भिन्न [या श्रेयस्कर–उत्तम मार्ग] (न) नहीं (अस्ति) है [और] (नरे) मनुष्य में (कर्म) [उस के द्वारा उपर्युक्त विधि से किए गए] कर्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होते हैं ॥२॥

टिप्पणियां—**कुर्वन्**—√कृ+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन। **जिजीविषेत**—√जीव्+सन्+विधि लिङ् प्रथम पुरुष एक वचन।

शतम्—शत, सहस्र आदि संख्याएं सदैव नपुंसक लिंग एक वचन में प्रयुक्त होती हैं। **समाः**—वर्ष। यह पद सदैव स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त अभीष्ट है। **लिप्यते**—√लिप्+कर्मवाच्य लट् प्रथम पुरुष एक वचन॥२॥

३. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थ—(ते) वे (लोकाः) प्रदेश [या स्थितियां] (नाम) निःसन्देह (असुर्याः) नाशक [अर्थात् दुःखदायी और] (अन्धेन) गहरे (तमसा) अन्धकार से (आवृताः) आच्छादित हैं, (तान्) उन [लोकों] को (प्रेत्य) मर कर (ते) वे [लोग] (अभिगच्छन्ति) प्राप्त करते हैं, (ये) जो (के) कोई (आत्महनः) आत्मघाती (जनाः) मनुष्य [होते हैं] ॥३॥

भाव—भाव यह है कि आत्महत्या करने वाले जन घोर दुःख-मय जीवन वाले जन्म को प्राप्त करते हैं। आत्महत्या शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी।

टिप्पणियां—**असुर्याः**—असुर सम्बन्धी। असुर—अस्यति-क्षिपति नाशयतीत्यसुरः। अतः नाशक, दुःखदायी तत्त्व का द्योतक है। असुर्याः को विशेषण न ले कर लोकों का नाम भी माना जा सकता है। आगे आने वाले 'नाम' अव्यय से यह अर्थ सुविधा से प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस अर्थ का कोई औचित्य न होने से वह त्याज्य ही है। कुछ लोग 'असूर्या' पढ़ते हैं (संस्कृत टोका देखें)। वहां 'सूर्य के प्रकाश से रहित' अर्थ होगा। **तमसा**—तमस्+तृतीया एक वचन, नपुंसकलिंग। **आवृत**—आ+√वृ+क्त। **प्रेत्य**—प्र+√इ+ल्यप्। **आत्महनः**—आत्मानं घ्नन्ति ते आत्महनः ॥३॥

४. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

अर्थ—[वह] (एकम्) एक [नामक अथवा अकेला ब्रह्म] (अनेजत्) गतिहीन होता हुआ [भी] (मनसः) मन से [भी] (जवीयः) वेगशाली (है)। (देवाः) इन्द्रियां [आदि देव] (एनत्) इस [ब्रह्म] को (न आप्नुवन्) प्राप्त नहीं कर सकते हैं [क्योंकि यह तो] (पूर्वम्) पहले ही (अर्षत्) [वहां] पहुंचा हुआ है। (तिष्ठत्) स्थिर [रहता हुआ] (तत्) वह तत् नामक ईश्वर [धावतः] दौड़ते हुए (अन्यान्) दूसरों का (अत्येति) अतिक्रमण कर जाता है। (मातरिश्वा) वायु (तस्मिन्) उस परमात्मा में (अपः) [प्राणियों के] कर्मों को (दधाति) धारण करता है ॥४॥

टिप्पणियां—**अनेजत्**—न एजत्; नञ् तत्पुरुष समास। **एजत्**—√एज्+शतृ नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। **एकम्**—मन्त्रों में परमात्मा या ब्रह्म को एक, तद् एक आदि कहा है। अतः ओ३म् के समान यह भी परमात्मा का नाम है। इस को 'एक, अकेला' अर्थ में भी लिया जा सकता है। **जवीयः**—जव+ईयसुन्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। **एनत्**—इदम् से नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन का वैकल्पिक रूप है। यह ब्रह्म—परमात्मा का बोधक सर्वनाम है। **देवाः**—इन्द्रियां। ये दो प्रकार की होती हैं—कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां। मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से क्रीड़ा, व्यवहार आदि का सम्पादन करता है, चमकता है और मुदित होता है, अतः इन्हें 'देव' कहा गया है। यह पद √दिव् से बनता है जिस के १—क्रीड़ा, २—विजिगीषा ३—व्यवहार, ४—द्युति, ५—स्तुति, ६—मोद, ७—मद, ८—स्वप्न, ९—कान्ति और १०—गति—ये दस अर्थ होते हैं। इन अर्थों से संबद्ध सभी पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। **आप्नुवन्**—√आप्+लङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। वैदिक भाषा में क्रिया के रूपों में काल का

भेद प्रायः लक्षित नहीं होता है, और भूत काल के रूप सभी कालों—वर्तमान और भविष्य को भी द्योतित करते हैं। अतः वहां बहुधा भूतकाल के रूपों का वर्तमान काल में अर्थ किया जाता है। अर्षत्—√ऋष् से लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। लौकिक रूप आर्षत् होता है। तत्—तदेक नामक ब्रह्म, जिसे प्रथम पाद में 'एकम्' कहा गया है। धावतः—√धाव्+शतृ+पुल्लिग द्वितीया बहुवचन। अपः-अपस् (कर्म) से नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन। मातरिश्वा—मातरि आकाशे श्वसिति इति। वायु। वायु गति का माध्यम है—वाति गच्छति इति वायुः। कर्म गति से ही किए जा सकते हैं। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। अतः वायु परमात्मा में ही प्राणियों से कर्म कराता रहता है॥ ४॥

**५. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥**

अर्थ—(तत्) वह तत् [नामक परमात्मा] (एजति) गति करता है। (तत्) वह तत् (न एजति) गति नहीं करता है। (तत्) वह तत् (दूरे) दूर [है], (तत्) वह तत् (उ) निःसन्देह (अन्तिके) समीप [है]। (तत्) वह तत् (अस्य) इस (सर्वस्य) सब कुछ के (अन्तः) अन्दर है। (उ) निश्चय ही (तत्) वह तत् (अस्य) इस (सर्वस्य) सब कुछ के (बाह्यतः) बाहर [भी] है॥ ५॥

टिप्पणियां—भाव—इस मन्त्र में परमात्मा में सब प्रकार की शक्तियों और स्थितियों की सत्ता को उस में विरोधी गुणों की सत्ता बता कर हृदयंगम कराया है। वस्तुतः यह प्रथम श्लोक के 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' का ही अनुवाद या व्याख्यान है। उ—निश्चयद्योतक अव्यय है। बाह्यतः—बहिर्भवः बाह्यः, उस से स्वार्थ में तसिल् प्रत्यय॥५॥

६. यस्तु सर्वाणि भूतान्य् आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते ।।

अर्थ—(यः) जो (तु) तो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों [और पदार्थों आदि] को (आत्मनि) परमात्मा में [या अपने आप में] [स्थित] (अनुपश्यति) देखता है—समझता है, (च) और (आत्मानम्) परमात्मा [या-अपने आप को] (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में [व्याप्त अनुभव करता है], [वह] (ततः) इस [दर्शन—अनुभव] के कारण (न वि जुगुप्सते) [किसी से] घृणा नहीं करता है ।।६।।

भाव—सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा का अनुभव करने वाला जब दूसरे घृणित स्वरूप का अनुभव ही नहीं करेगा, सब कुछ को परमात्मा की ही विभूति के रूप में देखेगा तो उसे अरुचि और घृणा हो ही नहीं सकती । इस तथ्य को बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य—मैत्रेयी संवाद में बड़े सरल और सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति, तद् इतर इतरं पश्यति, तद् इतर इतरं शृणोति, तद् इतर इतरम् अभिवदति, तद् इतर इतरं मनुते, तद् इतर इतरं जानाति । यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवाभूत् तत् केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कम् अभिवदेत्, तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात् ।" [२।४।१४] ।।६।।

टिप्पणियां—वि जुगुप्सते—वेद में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग क्रिया से अलग रहता है, और गौणवाक्य में क्रिया से मिला हुआ समस्त रहता है । जुगुप्सते—√गुप्+सन्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । वि पूर्वक यह रूप निन्दा, घृणा और अरुचि को व्यक्त करता है ।।६।।

७. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्य् आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस [समय] (विजानतः) ज्ञानवान् के लिए (आत्मा) आत्मा (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी [और पदार्थ आदि] (अभूत्) हो जाती है, (तत्र) वहां [—उस समय या अवस्था में] (एकत्वम्) [सब में] एकता को (अनुपश्यतः) समझने वाले को (कः) क्या (मोहः) मोह [और] (कः) क्या (शोकः) शोक [रह जाता है ? अर्थात् वह मोह और शोक से मुक्त हो जाता है ।] ॥७॥

टिप्पणियां—सर्वाणि—'अभूत्' क्रिया एक वचन में है, अतः इस वाक्य में 'आत्मा' उद्देश्य है, और 'सर्वाणि भूतानि' विधेय । यदि इस के विपरीत योजना की जायगी तो क्रिया विधेयानुसारिणी हो जायगी । भूतानि—√भू+क्त+नपुंसक लिंग प्रथमा बहुवचन । सत्तावान् पदार्थ । अतः 'प्राणी और पदार्थ आदि' । अभूत्—√भू+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन । विजानतः—वि+√ज्ञा+शतृ+षष्ठी बहुवचन । यहां सम्बन्ध में षष्ठी नहीं है, शेष में षष्ठी है । यदि ऐसा न मानें तो पिछले श्लोक' संख्या ६ से विरोध उत्पन्न हो जाता है । को मोहः—जैसा पहले श्लोक ६ की टिप्पणी में लिखा गया है, मोह और शोक तब ही हो सकते हैं जब मनुष्य अन्यों को आत्मा—(=परमात्मा से भिन्न मानता है । जब वह सब को परमात्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब मान लेता है, और अपने आप को भी उसी का प्रतिबिम्ब समझ लेता है, तब वह एक रस, एक रूप और एक काल में स्थित हो जाता है, रसभेद, रूपभेद और कालभेद नष्ट हो जाने से मोह, शोक और दुःख अपने आप तिरोहित हो जाते हैं । एकत्वम्—एकस्य भावः एकत्वम् । एक परमात्मा का नाम है, अतः 'एकता-परमात्मा-भाव-परमात्मा से तादात्म्य' । अनुपश्यतः—अनु+√दृश्+शतृ+पुंल्लिग षष्ठी एक वचन ॥७॥

८. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम-
स्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परि भूः स्वयंभूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अर्थ--(सः) वह [परमात्मा] (परि अगात्) सब ओर गया हुआ [=व्याप्त] है। [वह] (शुक्रम्) शीघ्रकारी [सर्वशक्तिमान्, अथवा दीप्तिमान्], (अकायम्) शरीर-रहित, (अव्रणम्) अक्षत (अस्नाविरम्) स्नायुओं से रहित, (शुद्धम्) निर्मल—पवित्र और (अपापविद्धम्) निष्पाप [है]। (कविः) क्रान्तद्रष्टा [अथवा सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ], (मनीषी) सर्वज्ञ (परिभूः) सब को वश में करने वाला [अथवा—सर्वोत्कृष्ट] [और] (स्वयं भूः) स्वयं ही सत्तावान् [उस परमात्मा ने ही] (शाश्वतीभ्यः) सनातन—अनादिस्वरुप (समाभ्यः) वर्षों [या प्रजाओं] के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से [अपने-अपने स्वरूप के अनुरूप] (अर्थान्) पदार्थों को (वि अदधात्) विविध रूप में बनाया है ॥८॥

टिप्पणियां—अगात्—√इ लुङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। शुक्रम्—इस की व्युत्पत्ति 'आशुकरम्'—'शीघ्र करने वाला' दी गई है। दयानन्द सरस्वती ने इस का भाव 'सर्वशक्तिमान्' लिया है। लोक और वेद दोनों में यह दीप्ति और प्रकाश का भी वाचक है। अकायम्—न कायः विद्यते यस्य तत्। शरीर तीन प्रकार का होता है-स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीनों ही प्रकारों का यहां निषेध किया गया है। अव्रणम्—न विद्यते व्रणं यस्य तत्। ज़ख्मों आदि से हीन, अर्थात् नीरोग। दयानन्द सरस्वती ने 'व्रण' का अर्थ 'छिद्र' किया है। अस्नाविरम् —न स्नावाः विद्यन्ते यस्मिन् तत्। स्नाव—शिराएं, नाड़ी आदि के सम्बन्ध रूप बन्धन (दयानन्द सरस्वती)। शुद्धम्—√शुध्+

क्त : अविद्या आदि दोषों से रहित, सदा पवित्र। **अपापविद्धम्**—न पापेन विद्धम्। पाप से हर प्रकार से असम्पृक्त और अस्पृष्ट। अर्थात् कभी भी न पापयुक्त है, न पाप करता है, न पापप्रिय है। **विद्ध**—√व्यध्+क्त। **कविः**—(शंकर)—सर्वद्रष्टा; (दयानन्द)–सर्वज्ञ। दोनों का भाव एक ही है। **मनीषी**—मनस ईषिता। सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला (दयानन्द सरस्वती), सर्वज्ञ (शंकराचार्य)। **परिभूः**—परि भवति इति। १. सब के ऊपर–सर्वोत्कृट (शंकर) २. दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला (दयानन्द)। **स्वयम्भूः**—स्वयं भवति इति। 'अनादि स्वरूप— जिस का संयोग से उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता–पिता, गर्भवास जन्म वृद्धि और मरण नहीं होते, वह परमात्मा, (दयानन्द सरस्वती)। **यथातथ्यतः**—यथा च तथा च यथातथा, तयोः भावः याथातथ्यम्, तस्माद् याथातथ्यतः। जो जैसे हैं, (उन्हें) उस प्रकार। शंकर के मत में—यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार। **अर्थान्**—सृष्टिगत पदार्थ। **अदधात्**—√धा+लुङ्, प्रथम पुरुष एक वचन। **शाश्वतीभ्यः**—शश्वत्—अनादि स्वरूप से अपने–अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश रहित, नित्य। **समाभ्यः**—यह पद 'वर्ष' का पर्याय है। अतः काल का द्योतक है–अनादि और अनन्त काल में होने वाले पदार्थों का निर्माता परमात्मा ही है। स्वामी शंकराचार्य ने 'संवत्सराख्य प्रजापति' अर्थ कर के इसी भाव को अप्रत्यक्ष रूप में इंगित किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे 'प्रजा' वाचक माना है। ॥८॥

९. अन्धं तमः प्र विशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥

अर्थ—(ये) जो (अविद्याम्) अविद्या की (उपासते) उपासना करते हैं, [वे] (अन्धम्) घोर (तमः) अन्धकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं। (उ) निःसन्देह (ये) जो (विद्यायाम्) विद्या में

(रताः) मग्न हैं, (ते) वे (इव) मानो (ततः) उस से भी (भूयः) अधिक (तमः) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] ।।६।।

टिप्पणियां—अन्धं तमः—यह अन्धकार क्रान्त दृष्टि का आच्छादक अज्ञान रूपी अन्धकार अथवा कष्ट और आवागमन के चक्र में फंसना है। अविद्या—न विद्या अविद्या। यह विद्या तो नहीं है, परन्तु विद्या के सदृश उस की जाति जैसी है। जैसे अब्राह्मण ब्राह्मण तो नहीं होता, परन्तु उस के समान मनुष्य जाति का होता है। यह अविद्या और विद्या क्या हैं ? इस में विद्वानों का मतभेद है। स्वामी शंकराचार्य इन्हें क्रमशः कर्म और देवताज्ञान का वाचक मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में अविद्या 'अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा शरीरादि में आत्मबुद्धि रूप' 'अर्थात्—ज्ञानादि गुणरहित कारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु' है और विद्या 'शब्द, अर्थ और इन के सम्बन्ध के जानने मात्र अवैदिक आचरण' है। उपासते—उप+√आस्+लट् प्रथम पुरुष बहुवचन। भूयः—बहु+ईयसुन्+नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन। यह तमः का विशेषण है। रताः—√रम्—क्त+ पुल्लिग प्रथमा बहुवचन ।।६।।

१०. अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यादाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।।

अर्थ—[आचार्य] (विद्यया) विद्या से (अन्यत्) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहुः) बताते हैं, [और] (अविद्यया) अविद्या से (अन्यत्) और [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहुः) बताते हैं, (इति) यह (धीराणाम्) [उन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (तत्) इस [विषय] को (नः) हमें (विचचक्षिरे) बताते आए हैं ।।१०।।

टिप्पणियां—आहुः—√ब्रू से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन का वैकल्पिक रूप है। पहले पांच—प्रथम पुरुष के तीन और मध्यम पुरुष के

पहले दो वचनों में लिट् लकार के प्रत्यय लगते हैं और ब्रू को आह हो जाता है। **शुश्रुम**—√श्रु से लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन। **धीर**-धियम् ईरयति इति धीरः—बुद्धियों के प्रेरक विद्वान् अध्यापक और उपदेशक। कालिदास ने लिखा है—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' अर्थात् निर्विकारचित्त ज्ञानी—रागद्वेष आदि से रहित यथार्थ वक्ता। **विचचक्षिरे**—वि+√चक्ष्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन ॥ १० ॥

११. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

अर्थ—(यः) जो (विद्याम्) विद्या (च) और (अविद्याम्) अविद्या (तत्) इस (उभयम्) जोड़े को (सह) साथ—युगपत् (वेद) जानता है, [वह] (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

टिप्पणियां—**वेद**—√विद्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन का वैकल्पिक रूप। **तत्**–दयानन्द सरस्वती इसे विद्या और अविद्या के युग्म का द्योतक न मान कर पृथक् लेते हुए इस का अर्थ 'ध्यानगम्य मर्म' करते हैं। उभयम् से वे एक विद्या और अविद्या के युग्म का और दूसरे इस तत्—ध्यानगम्य मर्म का भाव लेते प्रतीत होते हैं। **अविद्यया**—(दयानन्द)—शरीरादि जड़ पदार्थसमूह से किए पुरुषार्थ से, (शंकर)—अग्निहोत्रादि कर्म से। **मृत्युम्**—(दयानन्द)—मरणदुःख का भय, (शंकर)—स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान। **तीर्त्वा**—√तॄ+क्त्वा। **विद्यया**—(दयानन्द)—आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से। **अमृतम्**–(दयानन्द)—नाशरहित अपना स्वरूप या परमात्मा; (शंकर)—देवत्व भाव। **अश्नुते**—√अश्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन ॥११॥

१२. अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः॥

अर्थ—(ये) जो (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं [वे] (अन्धम्) घोर (तमः) अन्धकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं। (उ) निःसन्देह (ये) जो (सम्भूत्याम्) सम्भूति में (रताः) मग्न हैं, (ते) वे (इव) मानो (ततः) उस से [भी] (भूयः) अधिक (तमः) अन्धकार में [प्रविष्ट होते हैं] ॥१२॥

टिप्पणियां—असम्भूति—(दयानन्द)—अनादि, अनुत्पन्न, सत्त्व रजस् और तमोगुणमय प्रकृति रूप जड वस्तु; (शंकर)—कारण प्रकृति अथवा कामना और कर्म की बीज अव्याकृत नाम की अज्ञानात्मिका अविद्या। सम्भूति—(दयानन्द)—महत् तत्त्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि; (शंकर)—हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म ॥१२॥

१३. अन्यदेवाहुः सम्भवाद् अन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥

अर्थ—[आचार्य] (सम्भवात्) सम्भव से (अन्यत्) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहुः) बताते हैं, [और] (असंभवात्) असम्भव से (अन्यत्) और [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहुः) बताते हैं, (इति) यह (धीराणाम्) [उन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं, (ये) जो (तत्) इस [विषय] को (नः) हमें (विचचक्षिरे) बताते आए हैं ॥१३॥

टिप्पणियां—सम्भव-(दयानन्द)-संयोग जन्य कार्य; (शंकर) कार्य ब्रह्म। असम्भव—(दयानन्द) उत्पन्न न होने वाला कारण ॥१३॥

**१४. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥**

अर्थ—(यः) जो (सम्भूतिम्) सम्भूति (च) और (विनाशम्) विनाश (तत्) इन (उभयम्) दोनों को (सह) साथ (वेद) जानता है, [वह] (विनाशेन) विनाश से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर के (संभूत्या) सम्भूति से (अमृतम्) अमरत्व को (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

शांकर भाष्य का भाव—स्वामी शंकराचार्य ने विनाश का भाव कार्य ब्रह्म और अमृत का प्रकृतिलयरूप अमरत्व लिया है और मृत्यु को 'अधर्म और कामना आदि दोषों से उत्पन्न अनैश्वर्य', सम्भूति को असम्भूति—अव्यक्तोपासना माना है । स्वामी शंकराचार्य का यह मत विचारणीय ही है, क्यों कि मूल मन्त्र ने सम्भूति और विनाश का प्रयोग कर विनाश को असम्भूति का पर्याय माना है । आचार्य यहां व्याख्यान में पौर्वापर्य का व्यत्यय कर गए मालूम पड़ते हैं ।

दयानन्दभाष्य का अनुवाद—स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य कुछ भिन्न और वैशिष्टयपूर्ण है । वह इस प्रकार है—

"हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (**सम्भूतिम्**) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्य रूप सृष्टि (च) और उस के गुण, कर्म, स्वभावों को तथा (**विनाशम्**) जिस में पदार्थ नष्ट होते उस कारण रूप जगत् (च) और उस के गुण कर्म, स्वभावों को (**सह**) एक साथ (**उभयम्**) दोनों (**तत्**) उन कार्य और कारण स्वरूपों को (**वेद**) जानता है वह विद्वान् (**विनाशेन**) नित्य स्वरूप जाने हुए कारण के साथ (**मृत्युम्**) शरीर छूटने के दुःख से (**तीर्त्वा**) पार हो कर (**सम्भूत्या**) शरीर इन्द्रिय और अन्तः-करण रूप उत्पन्न हुई कार्य रूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (**अमृतम्**) मोक्ष सुख को (**अश्नुते**) प्राप्त होता है ।"

इस अनुवाद में दयानन्द ने सम्भूति का 'कार्य रूप सृष्टि' विनाश का 'कारणरूप जगत्' और अमृत का 'मोक्ष सुख' अर्थ लिया है ।।१४।।

१५. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।

अर्थ—(सत्यस्य) सत्य का या परमात्मा के ज्ञान का (मुखम्) मुख [=स्वरूप] (हिरण्मयेन) [तीव्र] प्रकाश के (पात्रेण) आवरण से (अपिहितम्) ढ़का हुआ [—छिपा हुआ] है। हे (पूषन्) पोषक [परमात्मन्], (त्वम्) तुम (तत्) उस [आवरण] को (सत्यधर्माय) यथाथ स्वरूप को (दृष्टये) देखने के लिए (अपावृणु) हटा दो [—खोल दो] ।।१५।।

टिप्पणियां—हिरण्मयेन—हिरण्यस्य विकार:, हिरण्येन निर्मितं वा; हिरण्य+मयट् । हिरण्य के दो अर्थ हैं—१. सोना और २. तेज, ज्योति, प्रकाश । सोना भी तेज:प्रधान होता है । भाव यह है कि सत्य के आगे चुंधियाने वाला असत्य वस्तुओं और प्रलोभनों का पर्दा पड़ा हुआ है, अत: उसे देखना सम्भव नहीं । **पात्रेण**—√पा+ष्ट्रन् या त्रन् । रक्षा करने या पीने का साधन । अत: आच्छादन, ढ़क्कन, परदा । **सत्यस्य**—(शंकर)—'आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म', (दयानन्द)-'अविनाशी यथार्थ कारण' । वस्तुत: यहां ब्रह्म का वर्णन प्रस्तुत है, जो समस्त सृष्टि का यथार्थ कारण और सर्वत्र व्यापक है । परन्तु मानव उस के स्वरूप का साक्षात्कार करने में सांसारिक प्रलोभनों के कारण असमर्थ रहता है । **अपिहित**—अपि+√धा+क्त । अनेक वार 'अपि' के 'अ' का लोप हो कर 'पिहित' रूप भी मिलता है । पिधान और अपिधान भी इसी धातु से ल्युट् प्रत्ययान्त हैं । **मुखम्**—पात्र के रूप में कल्पना करने पर इस का अभिधेय अर्थ संगत हो जायगा । इस का लाक्षणिक रूप—'स्वरूप' सीधा और स्पष्ट अर्थ दे देता है । **पूषन्**—पूषन् से सम्बोधन

एक वचन । पूषन् को ऋग्वेद में सूर्य का एक रूप माना जाता है, जिस के मूल में सूर्य की पोषक शक्ति है । आधिभौतिक अर्थ में तो यह ठीक है, परन्तु आध्यात्मिक अर्थ में यह परमात्मा के पोषक स्वरूप का द्योतक है । अगले मन्त्र का भी यही संकेत है । प्रकरण भी परमात्मा के वर्णन का है, सूर्य का नहीं । सत्य ज्ञान करा कर ईश्वर मनुष्य को शक्ति—पुष्टि देता है । **अपावृणु**—अप+आ+√वृ+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन । **सत्यधर्माय**—सत्यश्चासौ धर्मश्च, तस्मै । परमात्मा का यथार्थ स्वरूप । शांकर भाष्य ने इसे 'सत्यधर्मा उपासक' का द्योतक माना है—सत्यः धर्मः यस्य सः । यह भाव भी उपयुक्त है । काण्वसंहिता में अंकित स्वर के अनुसार यह बहुव्रीहि समास है । इस स्वर के अभाव में पहला अर्थ अधिक ठीक जान पड़ता है । अनुवाद में उसे ही अपनाया गया है ॥१५॥

१६. पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः ॥ सोऽहमस्मि ॥१६॥

अर्थ—(पूषन्) हे पोषक (एकर्षे) एक मात्र ऋषि, [या अग्नि के समान तेजस्वी] (यम) [सब के] नियन्ता (सूर्य) उत्पादक [और प्रेरक] (प्राजापत्य) प्रजा के स्वामी [परमात्मन्] (रश्मीन्) [अपनी बन्धक प्रलोभन रूपी] किरणों [के प्रकाश] को (व्यूह) हटा लो, (समूह) [और उन्हें] समेट लो । (ते) तुम्हारा (यत्) जो (तेजः) प्रकाश और (कल्याणतमम्) परम कल्याण करने वाला (रूपम्) स्वरूप [है], (ते) तुम्हारे (तत्) उस [स्वरूप] को (पश्यामि) देखना [चाहता] हूं । (यः) जो (असौ) वह (असौ) वह (पुरुषः) पुरुष [है], [अथवा, (असौ) प्राण (असौ) प्राण में (यः) जो (पुरुषः) पुरुष [है] (सः) वह (अहम्) परमात्मा [ही] (अस्मि) है ॥१६॥

टिप्पणियां—एकर्षे—काण्व संहिता में 'एक ऋषे' पाठ है। ऋग्वेद (८। ६। ४१) में इन्द्र को एक ऋषि और ईशान कहा है—"ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥" एकर्षि प्रश्नोपनिषद् (२। ११) में विश्व का सत्पति व्रात्य प्राण, और मुण्डकोपनिषद् (३। २। १०) में ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियों द्वारा उपासित अग्नि है। **यम**—√यम् (वश में करना, शासन करना से) +घञ् या अच्। **सूर्य**—√सू प्रेरित करना, उत्पन्न करना से निपातन से सिद्ध होता है। इसे 'सूर्य के समान प्रकाशमान' अर्थ में भी ले सकते हैं। **प्राजापत्य**—प्रजापतिः एव प्राजापत्यः; स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय। **रश्मीन्**-उणादि में रश्मि को √अश् (व्याप्त करना) से बनाया गया है—जो सर्वत्र व्यापक है। रश्मि रस्सी को भी कहते हैं, जो बांध लेती है। यहां भी ये ही भाव अभीष्ट हैं। **व्यूह, समूह**—वि और सम् पूर्वक √ऊह् के लोट् मध्यम पुरुष एक वचन के रूप हैं। भाव यह है कि अपने प्रलोभनों को समेट कर हटा लो। प्रलोभन भी तो ईश्वर ने ही बनाए हैं। साथ ही उपनिषदों का विचार है कि जिस पर परमात्मा कृपा करता है, वही उस के स्वरूप को देख सकता है—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यास्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।" **असावसौ पुरुषः**—शंकर के मत में यह "व्याहृति रूप अंगों वाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष" का द्योतक है। वस्तुतः 'असौ असौ' पूर्व वर्णन का निदर्शक है—वह—जो ऊपर वर्णित हुआ है—वह। अथवा-असौ-असु 'प्राण' का सप्तमी एक वचन का रूप है—प्राण-प्राण में—प्रत्येक प्राण=प्राणी में। **अहम्**—यह परमात्मा का पर्याय है, 'मैं' का वाचक सर्वनाम नहीं है। इसी अर्थ में यह वाक्सूक्त, वामदेव के दर्शन और गीता में प्रयुक्त हुआ है। **अस्मि**—अहम् के अनुरूप क्रियापद है। √अस्+लट् उत्तम पुरुष एक वचन॥१६॥

शांकर भाष्य—स्वामी शंकराचार्य का इस का अनुवाद कुछ भिन्न है—"हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम

(संसार का नियमन करने वाले) ! हे सूर्य (प्राण और रस का शोषण करने वाले) ! हे प्रजापतिनन्दन ! तू अपनी किरणों को हटा ले (अपने तेज को समेट ले)। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूं। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूं" ॥१६॥

१७. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ॥

अर्थ—[मेरा] (वायुः) प्राण आदि वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु [और] (अमृतम्) अविनाशी कारण में [लीन हो रहा है]। (अथ) और अब (इदम्) यह [मेरा] (शरीरम्) [पाञ्च-भौतिक स्थूल] शरीर (भस्मान्तम्) भस्म होने वाला [अथवा भस्म होने तक रहने वाला] है। (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव (ॐ) ओ३म् (नामक परमात्मा) को (स्मर) याद करो, (कृतम्) [अपने] किए हुए [कर्मों] को (स्मर) याद करो, (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव, (स्मर) [ॐ को] याद करो, (कृतम्) [अपने] कर्मों को (स्मर) याद करो ॥१७॥

टिप्पणियां—भाव—स्वामी शंकराचार्य ने इस में मुमूर्षु की भविष्य में होने वाली स्थिति का चिन्तन माना है। उन का अनुवाद यह है—"अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मावशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन। अब तू स्मरण कर, अपने किए हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए को स्मरण कर।" परन्तु ऐसा मानना विचारणीय प्रतीत होता है। इस से पहले मन्त्र में साधक परमात्मा के दर्शन के लिए उस से प्रार्थना कर चुका है। वह उस दर्शन को प्राप्त कर इस संसार से विदा हो रहा है। उस का विचार और अन्त काल का चिन्तन इस में दिया है। इस चिन्तन से सांसारिक मोह उसे नहीं सता सकेंगे। **क्रतो—**क्रतु से सम्बोधन

एक वचन। क्रतु—कर्म, अतः कर्म करने वाला। ॐ—यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम माना गया है। यह अ, उ और म् के मेल से बना है। यह अव्यय पद है और वर्णमाला की समस्त ध्वनियों को तथा ईश्वर के सब नामों को अन्तर्भूत करने वाला है। मन्त्रों के आदि और अन्त में इस के उच्चारण की प्रथा है। इसे प्रणव भी कहते हैं। इस का अकेले का भी जप बताया गया है। शंकरभाष्य के मत में यहां यह 'सत्य-स्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म' का द्योतक है। **स्मर**—√स्मृ + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन ॥१७॥

१८. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

अर्थ—हे (देव) दिव्य स्वरूप (अग्ने) परमात्मन्, (विश्वानि) सब (वयुनानि) कर्मों [और ज्ञान] को (विद्वान्) जानते हुए [तुम] (अस्मान्) हमें (राये) धन [=मोक्षधन की प्राप्ति के लिए] (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले जाओ। (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल—घोर (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर दो—हटा दो। [हम] (ते) तुम्हारे लिए (भूयिष्ठाम्) पुष्कल मात्रा में [अतः पुनः पुनः] (नम उक्तिम्) प्रणाम के वाक्यों से (विधेम) परिचर्या [सेवा करें, अर्थात् बोलें] ॥१८॥

टिप्पणियां—**अग्ने**—अग्नि परमात्मा का भी नाम है। वह सब जगह विद्यमान है, वह भी अग्नि के समान दाहक और प्रकाशन के गुणों से विशिष्ट है। इसे √अंग्,√अंज् या अग्र+√नी से निरुक्त किया जाता है। **नय**—√नी+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। **सुपथा**—अच्छे

मार्ग से । वेद के अनुरूप ही गीता ने भी मरने के बाद दो मार्ग बताए हैं अर्चिमर्गि और धूम्रमार्ग । पहला उत्तम है और मोक्ष को ले जाने वाला है । यहां उसी की ओर संकेत है । **राये**—रै+चतुर्थी एक वचन (पुल्लिग, स्त्रीलिंग) । यह धन लौकिक नहीं है, पारलौकिक और आध्यात्मिक है । **वयुनानि**— निघण्टु में प्रज्ञावाचक है, अतः ज्ञान; शांकरभाष्य-ज्ञान और कर्म । **विद्वान्**—√विद्+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन । जानता हुआ । **युयोधि**—√यु से लोट् मध्यम पुरुष एक वचन, वैदिक रूप । आधुनिक इसे लिट् लकारीय लोट् कहते हैं । **अस्मत्**--अस्मद् से पञ्चमी एक वचन । **जुहुराण**—√हवृ+कानच् । **एनः**—एनस् द्वितीया एक वचन, नपुंसक लिङ्ग । **भूयिष्ठाम्**—बहु+इष्ठन् +आ (स्त्री०) । **नमउक्तिम्**—नमसः उक्तिः वचनम् , ताम् । प्रणाम, अभि-वादन आदि । **विधेम**—√विध् (वैदिक धातु)+विधि लिङ् उत्तम पुरुष बहु वचन ।। १८ ।।

भाव—इस मन्त्र में उपासक या ज्ञानी अपने ज्ञान और जीवन की चरम सीढी पर पहुंच जाता है । अतः वह परमेश्वर से मोक्षदान की प्रार्थना करता है । उस के मार्ग की बाधाओं को निराकृत करना चाहता है । ।।१८।।

उपसंहार

१२. यहां वाजसनेयी संहिता की उपनिषद्—ईशोपनिषत् समाप्त हो जाती है । यह नाम इस उपनिषत् के सब से पहले पद 'ईशा' से मिला प्रतीत है ! क्यों कि इसे 'ईशा वास्योपनिषत्' भी कहते हैं । उपनिषदों के इस शान्त, स्फूर्तिप्रद, अज्ञान-तिमिर-नाशक, यथार्थ ज्ञान के व्याख्याता उपदेशों को पढ़ कर ही शौपेन हावर ने उपनिषदों को 'आत्मा, जीवन और मरण की शान्ति कहा था । '

वेदभारती

परिशिष्टम्

भावप्रकाशिका सुधीरिणी

संस्कृतटीका

: १ :

वेदमंत्राः

१. गायत्रीमंत्रः

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(ऋ० ३/६२/१०; सा० १४६२; य० ३/३५; २२/६; ३०/२; ३६/३)

अयं खलु मंत्रो वेदानां सार इति जनानां विश्वासः । अस्य ऋषिर् गाथिनो विश्वामित्रः । स्तोतारः गायत्रीच्छन्दसि सवितुः स्तुतिं कृत्वा बुद्धिकर्मणोः शुद्ध्यर्थं प्रार्थनां कुर्वन्ति—

वयं भगवतः परमेश्वरस्य स्तोतारो भक्ता वा देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उत्पादकस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वा तत् सर्वत्र प्रसिद्धं तत् वरेण्यं—श्रेष्ठं कमनीयं वा भर्गः तेजः शक्तिं वा धीमहि—सततं चिन्तयामः । अस्मासु धारयाम इति वा । यः परमेश्वरः नः अस्माकं सर्वेषां धियः बुद्धीः कर्माणि च प्रचोदयात् शुभमार्गे कल्याणपथे प्रेरयेत् नयेत् ।

अयं भावः—वयं परमेश्वरं ध्यायामः। सोऽस्मान् कल्याणमार्गे प्रेरयेत्।

२. भद्रकामना

विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(ऋ० ५/८२/५; य० ३०/३)

अस्य मंत्रस्य ऋषिः ऋग्वेदे तु श्यावाश्व आत्रेयः, परं यजुर्वेदे तु नारायणो ऽस्ति। अस्मिन्नपि मंत्रे सवितुः स्तुतिः प्रार्थना च स्तः। अत्रापि गायत्री छन्दः।

अस्मिन् मंत्रे स्तोतारः परमेश्वरं प्रार्थयन्ते यत् तेषां पापानि कष्टानि च नश्यन्तु, कल्याणं च भवेत्—हे देव प्रकाशमान सवितः सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उत्पादक परमेश्वर सूर्य वा अस्माकं सर्वेषां दुरितानि दुष्टाचरणानि दुःखानि वा परा सुव दूरे प्रक्षिप; नाशय इति भावः। यत् यत्किञ्चिद् अपि भद्रं कल्याणकरं स्यात् तत् सर्वैः वाञ्छितं भद्रं कल्याणं सुखं वा नः अस्मभ्यं सर्वेभ्यो भवद्भक्तेभ्यः आ सुव समन्तात् प्रापय-देहि।

अयं भावः—परमात्मा एव अस्माकं दुःखानि पापानि च नाशयितुं समर्थः, नान्यः कश्चित्। अतएव स प्रार्थ्यते।

३. दीर्घायुष्कामः

तच् चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ

शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
(ऋ० ७/६६/१६; य० ३६/२४)

अस्य मंत्रस्य ऋषिस्तु दध्यङ् आथर्वणः। अस्य देवता सूर्यः। छन्दश्च भूरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप्॥ अस्मिन् मंत्रे सूर्य इति नाम्ना परमेश्वरस्य जाज्वल्यमानां सर्वेषां कल्याणकारिणीं सत्तां निर्दिश्य वर्षशतं यावत् स्वस्थं जीवितुं कामयन्ते भक्ताः।

पुरस्तात् अग्रे। उपलक्षणमेतत्। अतः सर्वत्र। तत् सुप्रसिद्धं शुक्रं दीप्तिमत् शीघ्रमेव सुखादिसम्पादकं देवहितं देवेभ्यः समस्त-भूतजातेभ्यो हितं कल्याणकारि चक्षुः परमात्मनः स्वरूपम् उद् चरत् व्याप्नोति। सर्वत्र वर्तते इति भावः। तस्य परमात्मनो ऽनुकम्पया वयं सर्वो शतं शरदः वर्षाणि यावत् जीवेम श्वासादिकं धारयामः प्राणवन्तः स्यामेति भावः। एवमेवाग्रेऽपि। शतं शरदः वर्षाणि शृणुयाम शब्दादीन् आकर्णयेम। शतं शरदः वर्षाणि प्रब्रवाम सुष्ठु उपदेशादिकं व्यवहारादिशब्दं वान्यान् श्रावयामः। वयं शतं शरदः शतं वर्षान् अदीनाः स्वतन्त्राः स्याम तिष्ठेम। शरदः शतात् शतसंख्यायाः च अपि भूयः अधिकं जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम स्याम च।

मानवस्यायुः अल्पम् एव परन्तु यदि परमेश्वरस्य कृपा स्यात् तदैव सर्वमेतत्सम्भवति। अतएव तमेव प्रार्थयते जनः। स च सर्वेषां कल्याणं विदधाति।

केचनात्र "सूर्यस्य भानुरित्यर्थं गृहीत्वा 'सूर्यमेव प्रार्थयति जनः' सूर्यश्च स्वसामर्थ्येन सर्वेषां कल्याणं करोति" इति मन्यन्ते।

: २ :

चरैवेति

रोहितस्यारण्ये संवत्सरचरणानन्तरं भाविनं हरिश्चन्द्रादीनां वृत्तान्तं दर्शयति—

१. अथ हेति

(अथ) [ह] रोहितस्य अरण्ये संवत्सर-वासानन्तरम् (ऐक्ष्वाकम्) इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नं हरिश्चन्द्रं (वरुणो) देवो रोगरूपेण (जग्राह)। [तस्य] वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्य (उदरं जज्ञे) जलेन पूरितम् उच्छूनं महोदरनामकं रोगस्वरूपम् उत्पन्नम्। (तद उ ह) तद् अपि सर्वम् अरण्ये स्थितो (रोहितः) पुत्रो मनुष्यमुखात् (शुश्राव) [आकर्णयत्]। श्रुत्वा च (स) रोहितः पितरं द्रष्टुम् (अरण्याद्) [वनाद्] (ग्रामं) [निवासं, नगरं वा] [एयाय] आजगाम।

२. तमिन्द्र इति

[तम्] आगच्छन्तं रोहितं मार्गमध्ये (इन्द्रः) केनचिद् ब्राह्मण-पुरुषरूपेण [पर्येत्य] प्राप्य [उवाच] इदम् उक्तवान्। [अनाश्रान्ताय] आ समन्ताच्छ्रान्तः आश्रान्तः सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्ति प्राप्तः, तद्विपरीतः अनाश्रान्तः, एकत्रैवनिवासशीलः, तादृशाय। तथाविधस्य पुरुषस्य (श्रीः) बहुविधा संपत् (न) (अस्ति)। यद् वा–नाना–इति पदच्छेदः। श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य नाना श्रीः बहुविधा संपद् अस्ति इत्यनेन प्रकारेण। [हे] (रोहित) वयं नीतिकुशलानां पुरुषाणां मुखात

(शुश्रुम) [श्रृण्मः]। (वरो जनः) विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि पुरुषः (नृषत् पापः) नृषु मनुष्येषु सीदति इति नृषत्। श्रेष्ठो ऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदा ऽवस्थितः तैःअवज्ञातः पापस्तुच्छो भवेत्। अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्तः। न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनीयम्। (इन्द्रः) एव परमेश्वर एव (चरतः) तव (सखा) भविष्यति। तस्मात् (चरैव) सर्वथा अरण्ये चरस्व इत्येवमुवाच। एवं बहुषु अपि पर्यायेषु द्रष्टव्यम्।

तत्रेन्द्ररोहितयोः संवादे प्रथमं पर्यायं दर्शयित्व द्वितीयं पर्यायं दर्शयति।

३–४. चरैवेति

ब्राह्मणस्वरूपस्य इन्द्रस्य वाक्यं श्रुत्वा (ब्राह्मणः) अयम् अरण्ये (चरैव) इत्येवं [मा] माम् [अवोचत्] उक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये महान्तम् आदरं कृत्वा [द्वितीयं] पुनरपि एकं (संवत्सरम्) (अरण्ये) [चचार] चरित्वा पश्चात् पितरं द्रष्टुं [सः अरण्यात् ग्रामम् एयाय]। ग्रामं (तम्) आगच्छन्तं पुनरपि (इन्द्रः) [पुरुषरूपेण] ब्राह्मणरूपेण [पर्येत्य] आगत्य एवम् (उवाच)। (चरतः) पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य (जङ्घे) (पुष्पिण्यौ) भवतः। यथा पुष्पयुक्तो वृक्षः शाखा लता वा अथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवति, एवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः। तथैव (आत्मा) मध्यदेहो (भूष्णुः) वर्धिष्णुः (फलग्रहिः) आरोग्य-रूपफलयुक्तो भवति। यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृह्णाति एवं चरतः पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फलं गृह्णाति। तथैवास्य चरतः पुरुषस्य (सर्वे) (पाप्मानः) सर्वपापानि (प्रपथे) प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे (श्रमेण) तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादि-प्रयासेन (हताः) विनाशिताः सन्तः (शेरे) शेरते शयाना इव भवन्ति।

यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मानो नरकं हातुम् असमर्था इत्यर्थः । तस्मात् [एव] सर्वथा अरण्ये (चर), न पितुर्गृहे अवतिष्ठस्व ।

तृतीयं पर्यायं दर्शयति—

५–६. चरैवेति वा इति

(भगः) सौभाग्यम् (आसीनस्य) उपविष्टस्य (आस्ते) तथैव तिष्ठति न तु वर्धते । अभिवृद्धिहेतोः उद्योगस्य अभावात् । (तिष्ठतः) उपवेशनं परित्यज्य उत्थापनं कुर्वतः पुरुषस्य भगः (ऊर्ध्वः) अभिवृद्धेः उन्मुखः तिष्ठति । कृषिवाणिज्याद्युद्योगस्य संभावितत्वात् । (निपद्यमानस्य) भूमौ शयानस्य भगः (शेते) निद्रां करोति । विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति । (चरतः) तेषु तेषु देशेषु अर्जनार्थं पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य (भगः) सौभाग्यं (चरति) दिने दिने वर्धते । तस्मात् त्वं (चरैवेति) न त्वेकत्र तिष्ठ ।

चतुर्थं पर्यायं दर्शयति—

७–८. चरैवेति वै मेति

चतस्रः पुरुषस्य अवस्थाः । निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संचरणं चेति । ताः च उत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलिद्वापरत्रेताकृतयुगैः समानाः । ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति ।

पञ्चमं पर्यायं दर्शयति—

९–१०. चरैवेति वै मा ब्राह्मण इति

(चरन्) [वै] एव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे (मधु) माक्षिकं लभते । क्वचित् (स्वादुं) मधुरम् [उदुम्बरम्] उदुम्बरादिफलविशेषं [विन्दति]

लभते । एतदुभयम् उपलक्षणम् । तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते । तत्र सूर्यो दृष्टान्तः । (यः) सूर्यः सर्वत्र (चरन्) [अपि] (न) (तन्द्रयते) कदाचिदप्यलसो न भवति, तस्य (सूर्यस्य) (श्रेमाणं) श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं (पश्य) । तस्मात् (चरैव) ।

इत्थमिन्द्रकृतेन रोहितोपदेशेन चरतो रोहितस्य स्वजीवने पितुः आरोग्ये च कारणभूतं श्रेयोलाभं दर्शयति—

११. चरैवेति ··· वोचदिति

षष्ठे संवत्सरे पूर्ववदरण्यसंचारी स ह रोहितः कंचिद् (ऋषिं) तस्मिन् (अरण्ये) (उपेयाय) प्राप्तवान् । कीदृशमृषिम् (अजीगर्त-) नामकं [सौयवसिम्] सुयवसस्य पुत्रम् (अशनया) (परीतम्) अन्नालाभेन क्षुत्पीडितम् ।

अथाजीगर्तरोहितयोः संवादं दर्शयति—

१२–१६. तस्य हेति

(तस्य) अजीगर्तस्य [शुनःपुच्छः शुनःशेपः शुनोलाङ्गूलः] शुनःपुच्छादिनामकाः (त्रयः) (पुत्राः) (आसुः) । [तं] पुत्रवन्तमृषिं रोहितः (उवाच) ।

हे (ऋषे) (ते) तुभ्यम् (अहं) गवां (शतं) (ददामि) यच्छामि । दत्त्वा (अहम्) (एषां) पुत्रकाणां मध्ये (एकेन) केनचित् पुत्रेण (आत्मानं) मद्देहं वरुणात् (निष्क्रीणे) मूल्यं दत्त्वा आत्मानं मोचयामीति ।

एवम् उक्तः (सः) अजीगर्तः (ज्येष्ठं पुत्रं) शुनःपुच्छनामकं हस्तेन (निगृह्णानः) स्वसमीपे समाकर्षन् रोहितं प्रत्येवम् (उवाच) । तुभ्यमेकः पुत्रो दीयते (इमं) [नु] शुनःपुच्छं तु (न) ददामि । मम प्रियत्वाद् इति ।

ततो (माता) (कनिष्ठं) पुत्रं हस्तेन गृहीत्वा एवमुवाच । (इमं) शुनोलाङ्गूलं मम प्रियं (नो) (एव) सर्वथा न ददामीति । ततः (तौ) उभौ मातापितरौ (मध्यमे) पुत्रे (शुनःशेपे) दानं (संपादयांचक्रतुः) अङ्गीकृतवन्तौ ।

१७. तस्य ह शतमिति

ततः (तस्य) अजीगर्तस्य (स) रोहितो गवां (शतं) (दत्त्वा) (तं) शुनःशेपम् (आदाय) अवस्थितः । ततः (स) रोहितस्तेन शुनःशेपेन सह (अरण्यात्) स्वकीयं (ग्रामं) प्रति [एयाय] आजगाम ।

तदागमनादूर्ध्वकालीनं वृत्तान्तं दर्शयति—

१८. स इति

(स) रोहितः (पितरम्) [एत्य] आगत्य एवम् (उवाच)—हे (तत) पितर् (हन्त) आवयोर्हर्षः सम्पन्नः । (अहम्) (अनेन) शुनःशेपरूपेण मूल्येन (आत्मानं) मद्देहं वरुणात् (निष्क्रीणै) मूल्यं दत्त्वा आत्मानं मोचयामीत्यर्थः ।

१९. स वरुणमिति

तथोक्ते (स) हरिश्चन्द्रो (वरुणम्) [उपससार] उपेत्य (अनेन) शुनःशेपेन ब्राह्मणेन (त्वा) त्वां [यजै] यक्ष्यामि इत्युक्तवान् ।

२०. तथेति

स (वरुणः) अपि (तथा) (इति) अङ्गीकृत्यैवम् उवाच । (क्षत्रियात्) तव पुत्राद् रोहिताद् अप्ययं (ब्राह्मणः) (भूयान्) अभ्यधिकः एव मम प्रिय इति ।

२१. तस्मा इति

उक्त्वा (तस्मै) हरिश्चन्द्राय कर्त्तव्यत्वेन (राजसूयम्) [प्रोवाच] उपदिदेश च। स हरिश्चन्द्रो राजसूयं प्रक्रम्य तस्य मध्ये [अभिषेचनीये] यो ऽयम् अभिषेचनीयाख्य एकाहः सोमयागः, तस्मिन् (तम्) (एतम्) शुनःशेपं पुरुषं (पशुम्) (आलेभे) सवनीयपशुत्वेन आलब्धुं निश्चितवान्।

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/३]

: ३ :

शतपथब्राह्मणे

मत्स्यावतारेतिहासः

अस्मिन्नाख्याने जलप्लावनस्य कथोपनिबद्धा। तदा मनुः राजते स्म। जलप्लावने उत्थिते कश्चित् मत्स्यः मनोः साहाय्यमकरोत्, मनुश्च सुरक्षितः पृथिव्यां पुनः मानवीं प्रजां प्रावर्तयत्। मनुः मत्स्यं रक्षितवान्, मत्स्यश्च मनुम्।

१. ह वै नियतमेव प्रसिद्धम् इदं यत् कस्मिंश्चिद् दिने प्रातः उषसि एव सेवकाः मनवे वैवस्वताय राज्ञे मनवे। तादर्थ्ये चतुर्थी। अवनेज्यते प्रक्षाल्यते हस्तादि अनेन इति अवनेग्यं मुखादिप्रक्षालनाय उदकं जलम् आजह्रुः आनीतवन्तः। यथा अवनेजनाय प्रक्षालनाय इद जलम् पाणिभ्यां हस्ताभ्याम् आहरन्ति गृह्णन्ति, एवं तथैव तस्य मनोः अवनेनिजानस्य मुखादिकं प्रक्षालयतः पाणी हस्तौ एकः मत्स्यः मीनः आपेदे प्राप्तः। जले एको मीनः आसीत्, स मनोः हस्ते जलेन सह आगच्छत् इति भावः ॥१॥

२. सः मत्स्यः ह किल अस्मै राज्ञे मनवे वाचम् शब्दम् उवाद कथितवान्—मा मां बिभृहि पालय। त्वा त्वाम् पारयिष्यामि रक्षिष्यामि तारयिष्यामि वा।

मनुः प्रश्नमकरोत्—त्वं मा मां मनुं कस्मात् कष्टात् पारयिष्यसि रक्षिष्यसि तारयिष्यसि वा इति। मत्स्यः उदतरत्-भविष्यति काले आगन्ता एक औघः जलप्लावनं सर्वाः समग्राः इमाः एताः जगति

वर्तमानाः प्रजाः प्राणिनः पदार्थान् च निर्वोढा निःशेषेण पूर्णरूपेण इतः कुत्रचित् नेष्यति, नाशयिष्यति च । ततः तस्मात् जलप्लावनात् त्वा त्वां पारयितास्मि–रक्षिष्यामि तारयिष्यामि वा इति ।

मनुरपृच्छत्—हे मत्स्य, ते तव भृतिः पालनं पोषणं च कथं केन विधिना मया कर्त्तव्या इति ॥२॥

३. स मत्स्यः ह किल उवाच कथितवान् । यावत् यदा वै सुनिश्चितमिदं यत् मादृशाः प्राणिनः क्षुल्लकाः क्षुद्रकाः अल्पकाः भवामः वर्तामहे तावत् तदा नः अस्माकं वै सुज्ञातमिदं यत् बह्वी बहुसंख्याकाः नाष्ट्रा नाशकाः हिंसकाः भवति वर्तन्ते । अत्र बह्वीति नाष्ट्रेति च उभे पदे एकवचनान्ते स्तः । अथवा–यावत्–तावतोः यस्मात्–तस्मात् इति हेतुद्योतकौ एवार्थौ स्याताम् । उत तथा च मत्स्यः एकः मीनः मत्स्यम् अन्यं मीनम् एव अपि गिलति कवलीकरोति । अतः मा माम् अग्रे स्वस्य पुरतः कुम्भ्यां मृत्तिकादिनिर्मिते कस्मिंश्चित् लघौ घटे पात्रे वा बिभरासि स्थापय पालय च ।

सः मत्स्यः अहं यदा यस्मिन् दिने काले वा ताम् कुम्भीं घटम् अतिवर्धै अतिक्रम्य दीर्घः भवामि, यदा मम शरीरम् कुम्भस्य शरीरात् अधिकं भवेत्, अथ तदा कर्षूं गर्तं खात्वा भूमौ निर्भिद्य तस्यां तस्मिन् गर्ते मा मां बिभरासि स्थापयित्वा पालय । सः मत्स्यः अहं ताम् कर्षूं, गर्तमित्यर्थः । अतिवर्धै अतिक्रामेयम्, अथ तदा मा मां दीर्घं संजातं मत्स्यं समुद्रम् जलनिधिम् अभ्यवहरासि नय, तत्र च विसृज । तर्हि तस्मिन् काले वै निश्चयेनैव अहम् अतिनाष्ट्रः अतीतः नाष्ट्रान् नाशयितॄन् हिंसकान् इति हिंसकानां अगम्यः भवितास्मि भविष्यामि । कश्चिदपि मां नाशयितुं समर्थो न भविष्यतीति भावः ॥३॥

४. शश्वत् क्रमेण शीघ्रमेव झषः महामत्स्यः आस अभवत् यतः सः मत्स्यः ज्येष्ठं बृहत्तमं सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः अधिकतमं शीघ्रतमं वर्धते वृद्धिम् आप्नोत्। 'सर्वे एव हि जलचरा अतिशयेन वर्धन्ते, स तु मत्स्यत्वादनाष्ट्रत्वाच्च बृहत्तमं वर्धते' इति सायणाचार्यस्य व्याख्या। अयं भावः–स मत्स्यः असाधारणः आसीत्, अतः शीघ्रम् एव अवर्धत।

अथ इदानीं यदा स मत्स्यः मनुना समुद्रे क्षिप्तः तदा मत्स्यः मनुम् अकथयत्—इतिथीम्—इयत्यः तिथयो यस्यां सा, निर्धारितायां तिथौ इति भावः। अत्र तिथिनिर्धारणं न विहित। समुद्रे मत्स्य-क्षेपदिवसात् कतमो दिवसोऽत्र अभिप्रेत इति तु न निर्दिष्टमस्ति। सायणमतेन–इयतीनां दशानां द्वादशानां वा पूरणी इतिथी। शब्दो-ऽयं 'समाम्' इत्यस्य विशेषणम्। अमुकवर्षे इति भावः। तत् स पूर्वोक्तः ओघः जलसमूहः आगन्ता उत्थास्यति। तत् तदा मा मां नावम् तरणिम् उपकल्प्य निर्माय उपासासै सेवस्व। नौकां विरच्य मां सेवस्व, अथवा मां मत्स्यमेव नौकारूपेण प्रयुज्य तां नावम् उपासासै आश्रय। सः त्वं मनुः ओघे जलसमूहे उत्थिते प्रादुर्भूते सति नावम् नौकाम् आपद्यासै आश्रयस्व, ततः तदानीं, तस्माद् ओघात् वा त्वा त्वां मनुं पारयितास्मि रक्षिष्यामि तारयिष्यामि च। इति ॥४॥

५. स मनुः तं मत्स्यम् एवं मत्स्यस्य निर्देशम् अनुसृत्य भृत्वा पालयित्वा समुद्रम् अभि उदधौ अवजहार अत्यजत्। स मत्स्यः झषः मनवे यतिथीं समां यं वर्षं,तत् तस्मिन् समये परिदिदेश निर्दिष्टवान्, ततिथीं समाम्—तत्तिथियुक्ते वर्षे नावम् नौकाम् उपकल्प्य निर्माय उपासाञ्चक्रे सेवमानोऽतिष्ठत्। स मनुः ओघे जलप्लावने उत्थिते समायाते नावम् तरणिम् आपेदे आरूढवान्। तं नावं मनुं च स

मनुना पालितः मत्स्यः झषः मीनो वा उपन्यापुप्लुवे समीपे नौकाया अधः आगच्छत् । मनुः च तस्य मत्स्यस्य शृंगे नावः नौकायाः पाशं रज्जुम् प्रतिमुमोच बद्धवान्–अबध्नात् । तेन बद्धेन पाशेन मनुनौकाभ्यां सह स मत्स्यः एतम् पुरोदृश्यमानं सर्वैर्ज्ञातम् उत्तरं गिरिम् हिमालयं नाम उत्तरस्थं पर्वतं प्रति अधिदुद्राव सवेगम् अधिजगाम । सायणः 'अतिदुद्राव' इति पठति । तत्रापि अयमेव अर्थः ॥५॥

६. स मत्स्यः ह खलु उवाच—उवाद । त्वा त्वां वै निःसंशयम् अपीपरम्—रक्षितवान् ; अतारयमिति वा । इदानीं त्वं नावं तरणिं वृक्षे द्रुमे प्रतिबध्नीष्व बधान । गिरौ पर्वते ऽस्मिन् हिमालये सन्तं वर्तमानं त्वा त्वाम् उदकं जलम् अन्तः अन्तर्मध्ये गिरिमन्तरन्तर् एव निर्भिद्य मा छैत्सीत् न नाशयिष्यति, अथवा अस्माद् देशाद् पृथक् न नेष्यति । यावत् यावत् यावद्दूरं यथा यथा वा उदकं जलं समवायात् अधो गच्छेत् अवतरेत्, तावत् तावत् तावद् तावद् दूरं, तथा तथा इति वा अन्ववसर्पासि—अनुक्रमेण अवसर्पासि—अवतर । इति ।

स मनुः ह खलु तावत् तावत् तावत् तावद् दूरे, तथा तथा वा अनु अवससर्प अनुक्रमेण अवातरत् । उत्तरस्य गिरेः हिमालयस्य तद् एतद् प्रसिद्धमिदं मनोरवतरणप्रदेशम् इदानीमपि 'मनोरवसर्पणम्' इति नाम्ना जानन्ति ख्यापयन्ति च जनाः । इति ।

स ओघः जलसमूहः ह खलु ताः तत्काले वर्तमानाः सर्वाः समग्राः प्रजाः प्राणिनः निरुवाह नष्टाः अकरोत् । अथ तदा इह अस्मिन् लोके मनुः एव एकः एकलः परिशिशेष सजीवः सुरक्षितश्च अवशिष्टः ॥६॥

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. १–६]

: ४ :

शतपथब्राह्मणे

मनोः प्रजातिः

[मत्स्यावतारेतिहासस्योत्तरार्धः]

१. सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार

सः जलप्लावनात् परिशिष्टः एकाकी मनुः प्रजाकामः प्रजातिं कामयमानः इच्छन् अर्चन् देवान् पूजयन् श्राम्यन् तपश्चरन् कष्टान्यनुभवन् चचार न्यवसत्। निवसन् तत्र प्रजाकामनायाम् अपि च पाकयज्ञेन ईजे पाकयज्ञम् अयजत्। तस्मिन् यज्ञे स अप्सु जलेषु प्राणरूपेषु। 'आपो वै प्राणाः' इति शातपथी श्रुतिः। घृतमाज्यम्। दधि क्षीरजः अम्लगुणयुक्तः विकारः। मस्तु दधिसारः। आमिक्षा दधि-जलम्, अथवा दुग्धदध्नोः मिश्रितः पेयपदार्थः-लप्सीति भाषायाम्। ताम्। इत्येतानि वस्तूनि। जुहवाञ्चकार अहौषीत्। ततः तस्मात् अनुष्ठितात् पाकयज्ञात् संवत्सरे एकस्मिन् वर्षे व्यतीत एका योषित् मिश्रीभावात्मिका सम्बभूव सम्भूता प्रादुर्भूता। सा योषित् "पिब्द-माना पाकधर्मात्मिका। पिव क्षरणे। आ-दकारप्रत्ययः तत्त्वेन साक्षाद् आत्मगामिफलत्वाद् आत्मनेपदम्। पिवतेर्दकारप्रत्यययोगाद् बत्वम्" इति भाष्यकारः सायणः। शरीरी पाकयज्ञ इति अर्थः अत्र संगच्छते तराम्। घृतप्रभवाद् घृतं स्रवन्ती इव उदेयाय उद्गता-उदकादुत्थिता। एवञ्च सा सुस्निग्धा पिब्दमाना येन तस्यै तस्याः पदे घृतं सन्तिष्ठते

स्म । यत्र यत्र सा पदं न्यधात् तत्र तत्रैव घृतस्य चिह्नमभूत् । तया इडया च मित्रावरुणौ कथमपि संजग्माते संगतौ मिलितौ । "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" इति 'प्राणोदानौ मित्रावरुणौ' इति च श्रुतिवचनात् मित्रावरुणौ खलु प्राणापानौ, प्राणोदानौ वा । ताभ्याम् इडायाः सम्मेलनमभूत् ॥७॥

२. तां हेति

ताम् इडाम् तौ मित्रावरुणौ ऊचतुः पृष्टवन्तौ-त्वं का असि इति । इडा कथितवती–अहं मनोः दुहिता–पुत्री अस्मि । अथवा अहं मनुना दुःखेन हिता प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता वास्मि । एतच्छ्रुत्वा मित्रावरुणौ पुनरूचतुः–त्वमेवं न कथय । त्वं तु आवयोः मित्रावरुणयोः–प्राणापानयोः दुहिता-दोहनसामग्री असि-एवमेव ब्रूष्व कथय । इडा तन्न स्वीकृतवती उवाच अवदत् च–न इति । अहमेवं कथयितुं न पारयामि न चाङ्गी करोमि । यतः यः मनुः एव माम् अजीजनत पाकयज्ञं कृत्वा अप्सु प्राणेषु घृतादिकं हुत्वा उत्पादयामास, अहम् इडा तस्य एव मनोः दुहिता अस्मि भवामि, नेतरस्य कस्यचिद्, न युवयोः । तस्याम् इडायाम् अपि तु अमी मित्रावरुणौ ईषाते गतिं कुरुतः । इडा अन्नभूतास्ति, प्राणापानौ च अन्नात् जायेते । अत एवेदमुक्तमिति प्रतिभाति नः । अथवा–ईषाते शासनं कुरुतः–साधिकारौ स्त इति भावः स्यात् । तद्वा तत् मित्रावरुणयोः अधिकारं वा जज्ञौ जानाति स्म वा अथवा तद् न जज्ञौ न जानाति स्म इति तु न जानीमहे । सा तु अति तौ अतिक्रम्य तत् स्थानं परित्यज्य इयाय गतवती । सा इडा मनुम् मनुसमीपम् आजगाम आगच्छत् ॥८॥

३. तां ह मनुरिति

मनुः ताम् इडां दृष्ट्वा उवाच पप्रच्छ-त्वं का असि इति। मत्समीपे च किमर्थमागतवत्यसि। सा इडा उदतरत्-अहं तव मनोरेव दुहिता दुःखेन प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता पुत्री अस्मि। मनुः पुनः पप्रच्छ-हे भगवति, त्वं मम मनोः दुहिता-दुःखेन प्राप्ता दोहन-सामग्रीभूता पुत्री इति आत्मानं कथं कस्मात् कारणात् कथयसि। सा इडा अकथयत्-त्वं याः अमूः ताः पूर्वम् अप्सु जलेषु प्राणेषु घृतम् आज्यं, दधि क्षीरजं पदार्थविशेषं, मस्तु दधिसारम्, आमिक्षाम् दुग्धदध्नोः मिश्रणजनितं पेयपदार्थं चेति आहुतीः हवींषि अहौषीः अजुहोत्, ततः ताभ्यः माम् अजीजनथाः उत्पादयामास। सा अहम् आशीः कल्याणकारिणी वा मंगलभूता वा भद्राय कामो वा अस्मि। अतः तां तादृशीं भद्रकारिणीं मा मां यज्ञे प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पय अङ्गीकुरु-सहचरीं-पत्नीं कुरु। चेद् यदि वै असंशयं मा मां यज्ञे प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पयिष्यसि सहधर्मचारिणीं विधास्यसि, प्रजया सन्तानेन पशुभिः गवाश्वादिभिः बहुः समृद्धः भविष्यसि। बह्वीः प्रजाः पुष्कलपशुसमूहं च लप्स्यसे इति भावः। याम् उ यां कां चित् खलु आशिषं कामनाम् आशासिष्यसे अभिलषिस्यसि, सा आशीः कामना ते तव सर्वा समग्रा समर्द्धिष्यते सिद्धा भविष्यति। इति अनेन इडाया आग्रहेण ताम् एतत् एताम् इडां स मनुः यज्ञस्य मध्ये सन्तानोत्पादने अवाकल्पयत् अंगीकृतयान्। एतद् एव यज्ञस्य क्रतोः कर्मणो मध्यमस्ति यत् प्रयाजानुयाजयोः अन्तरा मध्यम् अस्ति। "प्राणा वै प्रयाजानुयाजाः" अतः प्राणयोः मध्ये घृतदध्यादीनाम् आहुतिरेव यज्ञस्य मध्ये इडायाः मनुद्वारा अवकल्पनमस्ति ॥६॥

४. तयार्चन्निति

प्रजाकाम: सन्तानं कामयमान: स मनु: तया इडया सह अर्चन् दर्शपूर्णमासयो: देवान् पूजयन् श्राम्यन् तप: कुर्वन्; कष्टानि अनुभवन् इति भाव:। चचार् न्यवसत् गार्हस्थ्यजीवनलक्षणं यज्ञमकरोत्। तया इडया सहधर्मचारिण्या शक्तिभूतया वा स मनु: इमां जगति विद्यमानां प्रजातिं सन्ततिं प्रजज्ञे उत्पादयामास, या इयं मनो: प्रजाति: प्रजा: कथ्यते स्मर्यते वा। जगति सर्वे जाता: जनिष्यमाणा: च स्त्रीपुरुषा: मनो: प्रजातित्वादेव मानवा उच्यन्ते। स मनु: यां कां च आशिषं भद्रं कल्याणं कामनां वा वेनया लालसया आशास्त लब्धुमैच्छत्, सा आशी: सर्वा सर्वथा अस्मै अस्य मनो: कृते समार्ध्यत सफला सिद्धा वाभूत्। मनु: सर्वान् कामान् तया इडया सहधर्मचारिण्या प्राप्तवान् इति निष्कर्ष:। अथवा याम् उ एनया इति पदच्छेद: स्यात्। एनया इति इडाया: द्योतकं पदम्। एनया अनया इडया इति भाव: ॥१०॥

५. सैषेति

निदानेन अनुसन्धानेन लक्षणैर्वा ज्ञायते यद् एषा या मनो: दुहिता आसीत्, अप्सु घृतादीनामाहुतिभ्य उत्पन्नया यया च मनु: प्रजातिं जनयामास, सर्वां च कामनां लब्धवान्, मनुना च या यज्ञमध्ये अवकल्पिता सा खलु यत् या इडा इति नाम्ना प्रसिद्धा। सा च इडा पात्रस्था सामग्री, पशवो वा। उक्तमस्ति शतपथब्राह्मणे अग्रेऽनुपदमेव–"पशवो वा इडा" इति; "स समवदायेडाम्। पूर्वार्द्धे पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति, ताँ होत्रे प्रदाय दक्षिणात्येति" इति च।

स जनः यः ह खलु एवं विद्वान् जानन् इडया पुरोडाशादिना चरति प्राणयज्ञं सम्पादयति, एतां मानवीं प्रजातिं प्रजां सन्तानं प्रजायते उत्पादयति, यां मनुः प्राजायत उत्पादयामास। वेनया लालसया, अथवा उ खलु एनया इडया यां कां च आशिषं कामनां भद्रं वा आशास्ते कामयते सा कामना भद्रं वा अस्मै जनाय सर्वा सम्पूर्णा समृद्ध्यते पूर्णा संजायते ॥११॥

अस्मिन् भागे ब्राह्मणकारः सूचयति यद् आख्यानमिदं यथार्थम् घटितेतिहासरूपेण न ग्राह्यम् । अत्र रूपकमाश्रित्य इडाप्रयोगस्य महत्त्वमेव प्रतिपादितमस्ति । इति ।

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. ७–११]

: ५ :

ऐतरेयब्राह्मणे शुनःशेपाख्याने वरुणस्य तितिक्षा

१. अथेति

(अथ) सम्प्रति। (एनं) पुत्रार्थिनं हरिश्चन्द्रम् (उवाच) नारदः कथितवान्–हे हरिश्चन्द्र पुत्रप्राप्त्यर्थं त्वं (राजानं) जगतः नियन्तारं (वरुणं) देवम् (उपधाव) प्रार्थयस्व–हे वरुण, एतादृशीं कृपां विधेहि यया (मे) मम (पुत्रः) सूनुः (जायताम्) उत्पद्येत। यदि अहं पुत्रं लभेय, तर्हि (तेन) पुत्रेण अहं (त्वा) त्वां तुभ्यं वरुणाय (यजै) यक्ष्यामि बलिरूपेण उपाहरिष्यामि।

२–५. तथेति

हरिश्चन्द्रः नारदस्य उपदेशानुसारं कर्तुं सहमतिं प्रकाशयन्नाह–(तथा) एवमेवाहं करोमीति। (स) हरिश्चन्द्रः (राजानं) जगतः स्वामिनं (वरुणं) देवम् (उपससार) उपागच्छत् प्रार्थयामास च–(मे) मम (पुत्रः) (जायताम्) उत्पन्नः स्यात्। अहं (तेन) पुत्रेण (त्वा) त्वां लक्ष्यीकृत्य (यजै) यज्ञं करिष्यामि। वरुणोऽपि तस्य प्रार्थनां समयमिमं च स्वीकृत्य आह–(तथा) एवमस्तु। तव पुत्रो भविष्यति। एवं (तस्य) हरिश्चन्द्रस्य (पुत्रः) सूनुः (जज्ञे) उदपद्यत। तस्य (नाम) (रोहितः) इति कृतमभूत्।

६–२४.

इदानीं बहुभिः पर्यायैः वरुणस्य उक्तिः हरिश्चन्द्रस्य प्रत्युक्तिश्च प्रतिपाद्यते । प्रथमं वरुणः रोहितस्य बलिं याचते, हरिश्चन्द्रश्च व्याजेन केनचिद् समयमतिक्रामति । वरुणश्च रोहितस्य यौवन-प्राप्तिपर्यन्तं हरिश्चन्द्रस्य व्याजान् शृण्वन् सहते । इयमेवात्र वरुणस्य तितिक्षा । अत्र समानानां शब्दवाक्यानां व्याख्या पुनः पुनः न कृता, एकवारमेव व्याख्यानं प्रदत्तं, सुगमत्वात् ।

६–८. तं होवाचेति

हरिश्चन्द्रस्य पुत्रे जाते (स) वरुणः (तं) हरिश्चन्द्रमुवाच अकथयत्–(वै) खलु (ते) तव (पुत्रः) सूनुः (अजनि) उत्पन्नो जातः । (अनेन) पुत्रेण (मा) मां–मह्यं (यजस्व) उपाहर । (स) हरिश्चन्द्रः (ह) खलु (उवाच)-यदा यस्मिन् काले वै खलु पशुः यज्ञे उपाहरणीयः जन्तुः, अत्र बालकः (निर्दशः) अतिक्रान्तानि दश दिनानि यस्मात्, सः(भवति); जन्मनो दश दिनेभ्यः पश्चादिति भावः । (अथ) तदा (स) पशुः (मेध्यः) यज्ञार्हः–यागयोग्यः (भवति) जायते । अतः अयं बालकः अपि–निर्दशः (नु) खलु (अस्तु) भवतु । (अथ) तदा (त्वा) तुभ्यं (यजै) यज्ञं करिष्यामि । वरुणः अंगी अकरोत्–(तथा) एवमस्तु । अयं बालकः निर्दशो भवतु, तदा मदर्थं तं यक्ष्यसि ।

६–११. स हेति

(स) रोहितः निर्दशः (आस) बभूव । यदा वा इति–अयं भावः–हरिश्चन्द्रः कथयति–मन्ये अशौचस्य दश दिनानि तु व्यतीतानि,

परं दन्तानामभावे अस्य अवयवाः न सम्पूर्णाः । विकलावयवः न यागयोग्यः । अतः दन्ता आगच्छेयुः, तदैव होतव्यो ऽयं बालकः ।

१२–२१. तस्य हेति

(जज्ञिरे) उत्पन्नाः जाताः । (अज्ञत) जाताः । लुङि रूपमिदम् । (पद्यन्ते) पतन्ति । अलीकाः दन्ताः पशोः अंगपूर्तिं न कुर्वन्ति, अतः ते पतन्तु । (पेदिरे) पद्धातोर्लिटि रूपम्; अपतन् । (अपत्सत) लुङि रूपं तस्मादेव धातोः, स एवार्थः । पुनर्जायन्त इति–पुनरुत्पन्नानां स्थिरत्वेन संपूर्णावयवत्वात् पशुः मेध्यः भवति ।

२२–२३. क्षत्रिय इति

(क्षत्रियः) राजन्यकुलोत्पन्नः बालकः । यद्यपि अयं सम्पूर्णावयवः संजातः, तथापि अयं क्षत्रियपुत्रः अस्ति । अतः स्वजात्या अनुरूपं (सांनाहुकः) संनाहं धनुर्बाणकवचादिरूपं संभारं धारयितुं शीलम् आचारः यस्य सः, तथाविधः भवतु । तदा स्वजात्युचितव्यापारसंपूर्तौ एव मेध्यत्वम् । अतः रोहितः (नु) क्षिप्रमेव संनाहं प्राप्नोतु ।

२४–२७. स ह संनाहमिति

(प्रापत्) प्राप्तवान् । शस्त्रादिधारणे समर्थः युवाभूत् । वरुणस्य रोहितयज्ञायानुरोधे स हरिश्चन्द्रः रोहितं यष्टुमंगीकृत्य तम् (आमन्त्रयामास) आकारयत्, उवाच च । (तत) प्रिय पुत्र । उपलालनार्थं पुत्रे पितृवाचिततशब्दप्रयोगः इति सायणाचार्यः । परं तातवद् अयं शब्दः स्नेहद्योतकः सम्बोधनशब्द एव । (अयम्) एव वरुणः (त्वां) रोहितं (मह्यं) हरिश्चन्द्राय अनेन समयेन (अदात्) दत्तवान्, यदहं त्वयि जाते त्वया अस्मै यजेय इति । त्वयि जाते तु मया यज्ञं न

कृतम् । (हन्त) परं महद् दुःखमिदं यद् इदानीं तु मया समयः अनुसर्त्तव्यः । अतः (अहं) हरिश्चन्द्रः (त्वया) रोहितेन (इमं) वरुणं (यजे) यक्ष्ये । यज्ञे तव बलिमस्मै प्रदाय प्रतिज्ञां पूरयिष्यामीति भावः ।

२८. स ह नेति

एतत् श्रुत्वा रोहितः स्वबलिदानाद् बिभ्यद्, हरिश्चन्द्रस्य वचनं तिरस्कृत्य (ह) खलु (न) मयास्मै यज्ञं न करिष्यसि । नाहं तव प्रस्तावमुररीकरोमि । एवम् (उक्त्वा) कथयित्वा (स) रोहितः (धनुः) शरासनम् (आदाय) गृहीत्वा (अरण्यं) वनम् (उपातस्थौ) अगच्छत् । तत्र च (अरण्ये) वने स (संवत्सरम्) एकं वर्षं यावत् (चचार) अभ्रमत्, न्यवसत् वा । धनुर्ग्रहणमात्मरक्षायै एव ।

[इतोऽग्रिमा कथा पूर्वमेव "२. चरैवेति" इति पाठे प्रक्ता वर्तते । तत्र द्रष्टव्या ।]

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/२]

: ६ :

४. तैत्तिरीयोपनिषदि

शिक्षावल्ली

i. तपः

किं किम् अनुष्ठातव्यमिति प्रतिपादयति—ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्त्तव्यं बुद्धौ परिनिश्चितम् अर्थमिति शंकराचार्याः। सत्यधारणमिति दयानन्दस्वामिनः। नियमानुशासने इत्याधुनिकाः। वेदाः, ईश्वरो वेति ब्राह्मणग्रन्थाः। स्वाध्यायं प्रतिदिनम् अव्यवहितं निःस्वार्थभावेन वेदादिशास्त्राणामध्ययनम्। प्रवचनम् अध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतानि ऋतादीनि अनुष्ठेयानि इति वाक्यशेषः। एवं सर्वत्र वाक्यशेष ऊहनीयः। सत्यं च सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा। यथादृष्टं यथानुभूतं यथाज्ञातं च सत्यं भवति। तपः कृच्छ्रादि, क्लेशसहत्वमिति भावः। दमः इन्द्रियजयः। शमः अन्तःकरणोपशमः। अग्नयः गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयादिरूपाः आधातव्याः। अग्निहोत्रं सायं प्रातः मन्त्रपूर्वकम् अग्नौ आहुतिप्रक्षेपः। तद् होतव्यम्। अतिथयः विद्वांसः सदाचारिणः हितकारिणः अभ्यागता जनाः, ते पूज्याः सत्कर्तव्याः। मनुषस्य इदम् मानुषं लौकिकः संव्यवहारः। यथास्थिति यथाप्राप्तं तत्सर्वं कर्त्तव्यम्। प्रजा सन्तानोत्पत्तिः कर्त्तव्या। प्रजनः ऋतौ ऋतौ भार्याभिगमनम्। प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः। पुत्रः गृहस्थकर्मणि प्रजननाय निवेशयितव्यः। एतानि सर्वाणि कर्माणि स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां सह नित्यं सम्पादनीयानि।

स्वामिशंकराचार्यः लिखति-"सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्य स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः, प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च। अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः।"

सत्यमिति सत्यमेव अनुष्ठातव्यम् इति सत्यवचाः राथीतरः मन्यते। सत्यवचाः-सत्यमेव वचः यस्य सः; यथार्थवचनः। अथवा सत्यवचा नाम राथीतरः रथीतरस्य गोत्रः-वंशीयः राथीतराचार्यः। तप इति-तप एव कर्त्तव्यम् इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः उपदिशति। तपोनित्यः तपसि नित्यः तपःपरः। अथवा तपोनित्य इति नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्य अपत्यं पुमान् पौरुशिष्टिराचार्यः। स्वाध्यायप्रवचने एव अनुष्ठेये इति नाको मौद्गल्यः प्रतिपादयति। नाकः कं सुखम्। न कम् अकं दुःखम्। न अकं विद्यते यस्य स नाकः सुखी जनः। अथवा नाको नाम मुद्गलस्य अपत्यं पुमान् मौद्गल्यः आचार्यः।

इदानीम् तैत्तिरीयोपनिषत्कारः प्रकरणमुपसंहरन् स्वकीयं मतं ददाति-तत् स्वाध्यायं हि एव तपः। तत् प्रवचनं हि एव तपः। अतः एते स्वाध्यायप्रवचने एव सर्वदा अनुष्ठेये। अयं भावः—स्वाध्यायेन सर्वविषयाणां सत्यतपोदमशमादिकर्मणां ज्ञानं भवति। प्रवचनं च तदैव भवति यदा जनः तत्सर्वं स्वयमेव जीवने व्यवहारे च सम्पादयति यत्किमपि स उपदिशति। अतः स्वाध्यायप्रवचनयोः कृतयोः सर्वाणि कर्माणि सम्पादितानि भवन्ति। वैशद्यार्थं छात्राणां सुखावबोधायैव विस्तरेण तत्तत्कर्मणां शब्दश उल्लेखो विहित आचार्येण।

[इति नवमोऽनुवाकः]

ii. आचार्यानुशासनम्

अस्मिन् अनुवाके आचार्यः ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं नियमेन कर्त्तव्यानि श्रौतस्मार्तादिकर्माणि उपदिशति । अनुशासनं पुरुषसंस्काराय भवति । संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते इति स्वामिशंकराचार्यः ।

वेदम् ऋग्वेदादिकम् अनूच्य अध्याप्य । आचार्यः गुरुः । मनुमतेन तु वेदस्य अध्यापयिता एवाचार्यः भवति । अन्तेवासिनं गुरुकुलनिवासिनं शिष्यम् अनुशास्ति साररूपेण कर्त्तव्यं व्यवहारमुपदिशति ।

सत्यं यथाप्रमाणावगतं वचः वद ब्रूहि । तथैव धर्मम् अनुष्ठेयानि कर्माणि आत्मस्थित्यै वेदादिषु वर्णितानि चर व्यवहर । स्वाध्यायाद् अध्ययनात् मा प्रमदः प्रमादम् उपेक्षां मा कार्षीः । आचार्याय गुरवे प्रियम् इष्टं धनम् आहृत्य आनीय समर्प्य च कृतविवाहः प्रजातन्तुं प्रजायाः प्रसरं पालनपोषणे वा मा व्यवच्छेत्सीः न भिन्धि । यथा वंशकर्मपरम्परे साधु प्रसरतः तथैवाचरणीयम् । 'अनुत्पद्यमाने ऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः' इति शंकराचार्यः ।

सत्यात् न प्रमदितव्यं सत्यस्य उपेक्षा न कर्त्तव्या । अनृतभाषणव्यवहारादिकं न कर्त्तव्यमिति भावः । धर्मात् न प्रमदितव्यं प्रमादो न कार्यः । कर्त्तव्यानि कर्माणि इहलोके परलोके च स्थितिकारकाणि

नित्यम् अव्यवहितं च सम्पाद्यानि। एवं कुशलाद् आत्मरक्षार्थात् कर्मणः न प्रमदितव्यम्। भूतिः मङ्गलम् ऐश्वर्यं वा। तस्यै भूत्यै भूत्यर्थात् ऐश्वर्यार्थात् मंगलयुक्ताद् वा कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायः अध्ययनम्। प्रवचनम् अध्यापनम् उपदेशश्च। ते हि नियमेन कर्त्तव्ये। एवमेव देवपितृकार्याभ्यां देवयज्ञात् पितृयज्ञात् च न प्रमदितव्यम्। एतानि सर्वाणि पूर्वमुक्तानि कर्माणि नित्यमेव सम्पाद्यानि।

मातृदेवो माता देवो यस्य स मातृदेवः; मातुः पूजकः इति भावः। तादृशः भव स्याः। एवं पितृदेवः पितुः पूजकः, आचार्यदेवः आचार्यस्य पूजकः अतिथिदेवः अतिथीनां सत्कर्त्ता भव। एते सर्वदा एव सत्कर्त्तव्याः, तेषामुपदेशश्च पालनीयः।

यानि अपि च अन्यानि अनवद्यानि अनिन्दितानि शिष्टाचारादि-लक्षितानि शिष्टैः अभिनन्दितानि आदृतानि च कर्माणि स्युः, तानि त्वया सेवितव्यानि कर्त्तव्यानि। इतराणि निन्दितानि शिष्टजनैः कृतान्यपि नो न सेवनीयानि। यानि अस्माकम् आचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितानि सदाचारपरायणानि कर्माणि शास्त्रा-नुकूलानि सन्ति तानि एव त्वया उपास्यानि अनुष्ठातव्यानि, नियमेन कर्त्तव्यानि इति भावः। इतराणि अतो विपरीतानि अस्माकमपि चरितानि नो न अनुकरणीयानि।

ये के च विशेषगुणयुक्ता आचार्यत्वादिधर्मैः विशेषिताः अस्मत् अस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतराः ब्राह्मणाः वेदज्ञाः ब्रह्मज्ञानिनो वा तव गृहे आगच्छेयुः, तेषां त्वया आसनेन आसनदानादिना सत्कारेण

प्रश्वसितव्यं श्रमः अपनेतव्यः । सर्वथा अतिथिसत्कारपरायणो भव इति भावः । अथवा–गोष्ठ्ययादिषु एतादृशेभ्यो विद्वद्भ्यः उच्चासनानि प्रदाय समुचितः आदरः करणीयः । तेषामुन्नतौ तेभ्यः अनभ्यसूयन् तेषामुपदेशस्य सारं गृहाण इति वा भावः स्यात् ।

किं च यत् किंचिदपि देयं तत् श्रद्धयैव दातव्यम् । अश्रद्धया श्रद्धायाः अभावे ऽपि त्वयार्थिभ्यः धनादिकं देयं दातव्यम् । अश्रद्धया अदेयं किमपि न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या स्वशक्त्यनुसारमेव देयं दातव्यम् । ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया भीत्या अपि देयम् । संविदा दयामैत्र्यादिकार्येण देयम् । यथाकथंचिदपि स्यात् तथा दानमवश्यं दातव्यम्, अन्यथा स्वयमेव—आत्मविभूतिफलं सेवमानः पापीयान् भविष्यसि ।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित् ते तव मनसि श्रौते स्मार्त्ते वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात्, ये तत्र तस्मिन् देशे काले च ब्राह्मणाः वेदस्य ब्रह्मणो वा ज्ञातारः बुधाः । सम्मर्शिनः विचारशीलाः । युक्ताः वृत्ते वा अभियुक्ताः स्वयं प्रवृत्ताः कर्मणि । आयुक्ताः अपरप्रयुक्ताः । अलूक्षाः अरूक्षाः अक्रूरमतयः– प्रियाचरणाः । धर्मकामाः धर्मपरायणाः, अन्येषां चापि धर्मे प्रेरकाः । स्युः भवन्तु । ते यथा येन प्रकारेण तत्र तस्मिन् कर्मणि वृत्ते आचारे वा वर्तेरन् व्यवहरेयुः, तथैव त्वमपि वर्तेथाः व्यवहरेः ।

अथ अभ्याख्यातेषु केनचिद् अभ्युक्तेषु संदिह्यमानेन दोषेण संयोजितेषु कर्मसु वृत्तेषु च तथा वर्तेथाः व्यवहरेः यथा तत्र तथाविधेषु कर्मसु प्रमाणभूताः वेदज्ञाः ब्रह्मविदः विचारशीलाः कर्मवृत्तयोः स्वयं

प्रवृत्ताः अपरैश्चापि प्रवर्तिताः मधुरव्यवहरणशीलाः धर्मपरायणाः वर्तेरन् व्यहरेयुः ।

एष आदेशः विधिः । एष उपदेशः पित्र्याचार्यादीनां पुत्र-शिष्यादिभ्यः अनुशासनं शिक्षा वा अस्ति । एषा वेदोपनिषद् वेदस्य रहस्यं सारो वा । एतद् एव अनुशासनं संस्कारः नियमेन नित्यं पालनीया आज्ञा वा । एवं यथा पूर्वमत्र उक्तं तथा सर्वम् उपासितव्यं सेवितव्यं व्यवहर्तव्यम् । एवं चैतद् उपास्यं सर्वमिदम् अनिवार्यरूपेण नियतमेव पालनीयम् । पुनर्वचनम् आदरार्थं बलाधानाय वा ।

इत्याचार्यानुशासनम् ।

[तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ल्याम् एकादशोऽनुवाकः]

: ७ :
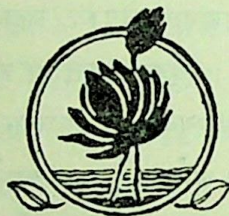
ईशोपनिषत्

भाव-प्रकाशिनी सुधीरिणी संस्कृतटीका

उपनिषदामादौ अन्ते च शान्तिपाठः क्रियते। ईशोपनिषदोऽपि शान्तिपाठः। स एवमस्ति। आदौ अन्ते च स प्रयोज्यः।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। ॐ

(अदः) अस्माकं दृष्ट्या तिरोहितं परं सर्वत्र वर्तमानं ब्रह्म (पूर्णम्) पूर्णं—समग्रम् अस्ति। (इदम्) एतत् जगद् अपि (पूर्णम्) पूर्णं-समग्रम् अस्ति। (पूर्णात्) समग्रात् परमात्मनः (पूर्णस्य) समग्रस्य परमात्मनः (पूर्णम्) समग्रताम् (आदाय) गृहीत्वा (पूर्णम्) समस्तं जगत् (उदच्यते) उद्गच्छति—उत्पन्नं भवति। एवं सत्यपि तद् ब्रह्म (पूर्णम्) समग्रं-सम्पूर्णम् (एव) एव (अवशिष्यते) तिष्ठति-वर्तते। जगतो बहिर्गमनेनापि ब्रह्मणि विकारो न्यूनता वा नायाति। परमात्मा अपि पूर्णम्, जगद् अपि पूर्णम्। उभयोः उत्पाद्योत्पादकभावसम्बन्धो वर्तते।

(ॐ) ईश्वरः खलु (शांतिः) आधिभौतिकेभ्यः दुःखेभ्यः (शान्तिः) आधिदैविकेभ्यो दुःखेभ्यः (शान्तिः) आध्यात्मिकेभ्यश्च दुःखेभ्यः अस्मान् रक्षतु, दुःखान्यपोह्य सुखसृष्टिं कुर्वतु। ●●●

ईशोपनिषत्

संस्कृतटीका

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

(जगत्याम्) ब्रह्माण्डे (यत् किं च) यत् किञ्चिदपि (जगत्) पुनः पुनः भृशं वा गच्छति-गतिं करोतीति जगत्; यत्किमपि प्रलयानन्तर सत्तायामागच्छति; अतः चराचरं वस्तुजातं विद्यते, तद् (इदम) सर्वैरस्माभिः प्रत्यक्षमनुभूयमानं दृश्यमानं च (सर्वम्) समस्तं ब्रह्माण्डस्थं वस्तुजातम् [ईशा] परमेश्वरेण (वास्यम्) व्याप्यम् । ईश्वर एव सर्वत्र सर्वेषु च वस्त्वादिषु व्याप्नोति, न किमपि तस्माद् बाह्यमस्ति । अतः आसक्तिं परित्यज्य (तेन) परमेश्वरेण (त्यक्तेन) प्राणिभ्यः स्व-स्वकर्मानुसारं प्रदत्तेन पदार्थादिना (भुञ्जीथाः) संसारे ऽस्मिन् विषयादीनामुपभोगं कुरु; यत्किञ्चिदपि निजकर्मप्रयत्नाद्यनुसारं मिलति, तेनैव मनुष्यः सन्तुष्येत् । (कस्य स्विद्) कस्यचिदप्यन्यस्य (धनम्) ऐश्वर्यादिकं (मा गृधः) प्राप्तुं वाञ्छां न कुरु । अन्ये जना अपि स्वस्वकर्मभोगाद्यनुसारं यत्किञ्चिदपि प्राप्नुवन्ति, तत्सर्वं तेषामेव न्याय्यं, नान्येषाम् । अतोऽन्येषां समृद्धिम् आत्मसात्कर्तुमभिलाषं मा कार्षीः ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

नरः [इह] अस्मिन् जगति [कर्माणि] नित्यानि काम्यानि च द्विविधानि, कर्माणि, कर्त्तव्यानि कार्याणि वा [कुर्वन्] सम्पादयन् [एव] एव [शतम्] शतसंख्याकाः [समाः] वर्षाणि [जिजीविषेत्] जीवितुमिच्छेत्। कर्म अकर्म इत्यनयोः कर्म एव ज्यायः। अतः कर्म एव जनः सम्पादयेत् नैष्कर्म्यं नाश्रयेत्। शतं वर्षाणि तु जीवितुमिच्छेद् एव। एतत्तु न्यूनतममायुः। दीर्घायुष्काममन्त्रे तु 'भूयश्च शरदः शतात्' इत्युक्त्वा शताद् वर्षेभ्यो ऽपि अधिककालं यावत् जीवितुमिच्छाया विधानं कृतमस्ति। [इतः] अस्मात् कर्मणो मार्गात् [अन्यथा] भिन्नो मार्गः [न अस्ति] कश्चिदपि न विद्यते। कर्म तु मनुष्येणावश्यं कर्त्तव्यम्। [एवम्] कर्म-सम्पादके [त्वयि] सम्बोध्यमाने [नरे] जने [कर्म] क्रियमाणकार्यस्य फलं [न लिप्यते] यथा शरीरे मलं व्याप्नोति तथा आत्मनि आसक्तं न भवति-किमपि शुभाम् अशुभाम् वा गतिं न करोति। अथवेयं योजना कर्त्तव्या-(त्वयि) स्तोतुः (एवम्) आचरणशीले सति (इतः) अस्मात् कर्मणो मार्गात् (अन्यथा) भिन्नो वा। श्रेयस्करो वा उत्तमो वा मार्गो (न) (अस्ति) न विद्यते। (नरे) मानवे (कर्म) तेन उपर्युक्तेन विधिना विहितं कर्म (न लिप्यते) संसक्तं न भवति।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

[ये के च] ये केचन [जनाः] मनुष्याः [आत्महनः] ज्ञानस्योपेक्षया अज्ञानस्योपासनया, अथवा शरीरस्य नाशं कृत्वा आत्मनः स्वान् घ्नन्ति व्यापादयन्ति, [ते] ते मूढाः दुर्भगा वा पुरुषाः [प्रेत्य] मरणं प्राप्य [तान्] तान् लोकान् प्रदेशान् दुःखपूर्णदेहादीन् वा [अभिगच्छन्ति] प्राप्नुवन्ति,

ये [ते] [नाम] खलु ते प्रसिद्धाः [लोकाः] प्रदेशाः शरीरादयो वा [असूर्याः] सूर्याद् विरहिताः गत्यादिविहीना वा [अन्धेन] गाढ़ेन [तमसा] अन्धकारेण दुःखादिना वा [आवृताः] आच्छन्नाः–व्याप्ताः सन्ति। एतादृशान् लोकान् शरीरादीन् वा प्राप्य ते दुःखमेव प्राप्नुवन्ति, तत्र सुखस्य लेशो ऽपि न विद्यते। अतः मनुष्यः सदैव ईश्वरं सर्वत्र व्यापकं ज्ञात्वा तेन प्रदत्तान् भोगान् अनुभवन् कर्म कुर्वन् शतं वर्षाणि जीवितुमिच्छेत्। अग्रे वर्णितं च पन्थानमनुसरेत्।

कुत्रचिद् यजुर्वेदे च'असुर्याः' इति पाठो विद्यते। तत्रायमर्थः–असुराः स्वार्थिनः प्राणपोषणतत्पराः पापिनः अविद्यादियुक्ताः जनाः, तेषां सम्बन्धिनः लोकाः प्रदेशाः, शरीरादयो वा। अन्ये तु असुरावासभूताः इति भावं गृह्णन्ति। अथवा–अस्यति क्षिपति नाशयतीत्यसुरः। अतः नाशकाः, दुःखदायिनः। अयमेवार्थः साधिष्ठः प्रतीयते। असुर्याः इति लोकविशेषाणां नाम एव स्यात्।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

[एकम्] तद् एकं नाम ब्रह्म [अनेजत्] न एजते कम्पते इति अचलत् इत्यर्थः। [मनसः] विचारादिसाधनभूतात् चित्तात् मनोवेगात् अपि [जवीयः] वेगवत्तरम् अस्ति। इदम् सर्वत्र [पूर्वम्] सर्वेभ्यो वस्तुभ्यो विचारादिभ्यश्च प्राक् एव [अर्षत्] गतम् अस्ति। अतः [देवाः] चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि हस्तादीनि च कर्मेन्द्रियाणि [एनत्] तद् ब्रह्म [न] [आप्नुवन्] न प्राप्नुवन्ति न गच्छन्ति। इन्द्रियैस्तस्य ज्ञानं न भवतीति भावः। [तिष्ठत्] स्थितं स्थिरं वा [तत्] तद् ब्रह्म

[धावतः] सवेगं गच्छतः [अन्यान्] इतरान्-मनोवाक्चक्षुचरादीनीन्द्रियाणि भूतानि प्राणिनो वा [अत्येति] अतीत्य गच्छति, सर्वेभ्यो दूरमुत्कृष्टं च वर्तते, सर्वं तस्मिन्नेव वर्तते, तत् सर्वमाप्नोति, तत् किमपि नाप्नोति। [मातरिश्वा] मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति प्राणान् धरतीति वायुः, जीवः वा [तस्मिन्] ब्रह्मणि एव [अपः] स्वं [प्राणिनां वा] कर्माणि [दधाति] धारयति, करोतीति वा। यतः सर्वं ब्रह्मणा व्याप्तम् अतः यत्किमपि कर्म येन केनापि क्रियते, तद् ब्रह्मणि एव क्रियते। अतः मनुष्यः परमेश्वरं सर्वशक्तिमन्तं व्यापकं सर्वोत्कृष्टं च विज्ञाय लोभं परित्यज्य कर्म च कुर्वन् शतं वर्षाणि जिजिवेषेत्।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

[तत्] तद् नाम ब्रह्म [एजति] चलति। ब्रह्म एव जगद् रचयति। रचनायां च गतिरपेक्ष्यते। अतः ब्रह्म चलति। मूढानां जनानां मतेनैव ब्रह्म चलायमानं स्थैर्यविहीनं भवति, नान्येषां मतेनेति दयानन्दस्वामी। [तत्] तद् ब्रह्म [न] [एजति] न चलति। स्थिरं दृढं च वर्त्तते। [तत्] तद् ब्रह्म [दूरे] दूरतमे स्थाने ऽपि वर्तते। अज्ञानिनामधर्मात्मनां जनानां ब्रह्म दुर्लभमिति दयानन्दस्वामी। [उ] नियतमेव [तद्] तद् ब्रह्म [अन्तिके] समीपे वर्तते। प्राणिनां हृद्देशे तिष्ठति, सर्वत्र व्यापकत्वाच्च सर्वेषां वस्तूनां निकटतमं दूरतमं चास्ति। [तद्] तद् ब्रह्म [अस्य] एतस्य दृश्यमानस्य अनुभूयमानस्य च [सर्वस्य] समस्तपदार्थजातस्य [अन्तः] आभ्यन्तरे, [उ] नियतमेव [तद्] तद् ब्रह्म [अस्य] एतस्य दृश्यमानस्यानुभूयमानस्य च [सर्वस्य] समस्त-

पदार्थजातस्य [बाह्यतः] बहिरपि वर्तते । पुरुषसूक्ते ऽपि कथितं 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम् ।' इदं सर्वं जगद् व्याप्य ब्रह्मेदमात्मनि धारयति, स्वयं च जगतोऽभ्यधिकमस्ति । ब्रह्म सर्वशक्तिमत् सर्वव्यापकञ्चास्तीति निष्कर्षः ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यतो ब्रह्म सर्वव्यापकमस्ति अतः [तु] खलु [यः] यो विद्वान् जनः [सर्वाणि] समग्राणि [भूतानि] उत्पन्नानि वस्तुप्राणिप्रभृतीनि [आत्मनि] ब्रह्मणि (स्वात्मनि वा) [एव] एव स्थितानि, नान्यत्र वर्तमानानि [अनुपश्यति] अवबोधति, अनुभवति च, [आत्मानम्] परमात्मानं ब्रह्म (स्वात्मानं वा) [च] अपि [सर्वभूतेषु] समस्तेषु पदार्थेषु प्राणिषु वा व्यापकं जानाति, स [ततः] अस्माद् ज्ञानात् [न विजुगुप्सते] कस्माचिदपि घृणां न धारयति, सर्वत्र प्रेम्णा व्यवहरति, यतः सर्वमेव ब्रह्मैव दृश्यते, नान्यत्किञ्चित् । ब्रह्मणस्तु घृणायाः प्रश्नो ऽपि नास्ति ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

[यस्मिन्] यस्मिन् समये परमात्मानं सर्वव्यापकमनुभूय [विजानतः] ज्ञानिनः (मनसि) [आत्मा] ब्रह्मणस्तेषु व्याप्त्या परमात्मा [एव] एव [सर्वाणि] समग्राणि [भूतानि] प्राणिपदार्थादीनि [अभूत्] अस्ति इति ज्ञानं जायते, [तत्र] तस्मिन् समये [एकत्वम्] पदार्थ-परमात्मनोः ऐक्यं-तादात्म्यम् [अनुपश्यतः] अनुभवतः साक्षात्कुर्वतः विदुषः [कः] कीदृशः [मोहः] मूढावस्था [कः] कीदृशः [शोकः]

परितापः स्यात् ? न किमपि मौढ्यं न को ऽपि परितापश्च तस्य भवतः। यदा सर्वं ब्रह्मैव, ब्रह्मयुक्तं वानुभूयते, तदा कोपि कस्मादपि मोहं शोकं च न प्राप्नोति।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

[सः] उपरि वर्णितः परमात्मा [परि] समन्तात्-सर्वत्र [अगात्] गतवान्-व्याप्तः अस्ति। तद् ब्रह्म [शुक्रम्] प्रकाशमानम्, आशुकरं सर्वशक्तिमदिति वा, [अकायम्] स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपत्रिविध-शरीररहितम्, [अव्रणम्] अक्षतम्-अच्छिद्रमच्छेद्यं च [अस्नाविरम्] स्नायवः शिरानाड्यादयः, ते न विद्यन्ते यस्य तत् नाड्यादिरहितम्, [शुद्धम्] पवित्रम् अविद्यादिदोषरहितम्, [अपापविद्धम्] पापेन एनसा न विद्धं व्याप्तम्; निष्पापम् चास्ति। स खलु [कविः] क्रान्तद्रष्टा वा सर्वद्रष्टा वा सर्वज्ञो वा, [मनीषी] मनस ईशिता नियन्ता, सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां ज्ञाता, [परिभूः] सर्वेषां परिभविता, तिरस्कर्त्ता, सर्वातिशायीति भावः। [स्वयम्भूः] स्वयमेव जातः, न कस्मादपि प्रादुर्भूतः संयोगजन्यजन्म-वियोगजन्यविनाशरहितः अनादिस्वरूपः सः [शाश्वतीभ्यः] नित्याभ्यः अनादिस्वरूपाभ्यः सनातनीभ्यः [समाभ्यः] प्रजाभ्यः संवत्सरेभ्यो वा [अर्थान्] सर्वान् पदार्थान् [याथातथ्यतः] तत्तद्वस्तुस्वरूपानुसारं, स्वस्वकर्मणो भोगानुसारं वा [व्यदधात्] निर्मितवान्, विधत्ते वा। सर्वेषां पदार्थानां निर्माता, प्रजानां कर्मणां

न्यायं विधाय भोगानां प्रदाता च परमात्मा एव । अतः स एव ज्ञातव्यः, उपासनीयश्च ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

[ये] ये ज्ञानहीना जनाः [अविद्याम्] अग्निहोत्रादिकर्ममात्रम् । अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या, ताम् । ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु, कार्यकारणात्मकं जडं ईश्वराद् भिन्नम् । [उपासते] सेवन्ते, तत्परा अनुतिष्ठन्तीति भावः ते एतादृशा जनाः [अन्धम्] गाढं [तमः] अन्धकारं [प्रविशन्ति] प्राप्नुवन्ति, गाढेऽन्धकारे मज्जन्तीति भावः । [ये] ये आत्मानं पण्डितंमन्यमानाः विद्वांसः [उ] नियतमेव [विद्यायाम्] ज्ञाने, शब्दार्थ-सम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे (देवताज्ञाने वा) [रताः] निमग्नाः रममाणा वा सन्ति, [ते] सम्यग्बोधरहिताः जनाः [ततः] अविद्योपासकैः प्राप्ताद् अन्धकाराद् अपि [भूयः इव] अधिकतरमिव [तमः] अन्धकारं प्रविशन्ति । केवलं कर्मण एव, केवलं ज्ञानस्य एव वा सेवनं न मानवहिताय । एकस्यैवोपासनया घोरं दुःखमेव जनमायाति । अतः सांसारिकेषु कर्मसु ब्रह्मज्ञान एव वा कस्यचिदपि रतिः नाभीष्टा ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

आचार्याः [विद्यया] ज्ञानेन, अवैदिकेनाचरणेन वा [अन्यत्] अन्यादृशं भिन्नम् [एव] एव फलं कार्यं वा [आहुः] कथयन्ति । [अविद्यया] कर्मणा असज्ज्ञानेन, कार्यकारणात्मकेन जडेन वा [अन्यत्]

अन्यादृशं भिन्नं विद्यायाः फलतः कार्यतो वापि भिन्नं फलं कार्यं वा एव [आहुः] वदन्ति [इति] एतत् उपरिनिर्दिष्टं द्वयोः कर्मज्ञानयोः पृथक् पृथक् फलं कार्यं वा [धीराणाम्] विद्वद्भ्यः [शुश्रुम] शृणुमः [ये] तत्त्वज्ञानिनः [तत्] उपरिनिर्दिष्टं ज्ञानं, भेदं, तत्त्वं वा [नः] अस्मान् [विचचक्षिरे] व्याख्यातवन्तः ।

अयं भावः—विद्यायाः फलं अविद्यायाः फलाद् भिन्नमस्ति। एकस्याः विद्यायाः अविद्याया वा सेवनेन एकस्या एव फलं प्राप्स्यते। तच्चैककं फलं न मानवस्य श्रेयसे । तत्खलु पुरुषं घोरे तमसि निमज्जयति। यतः कारणानुरूपमेव कार्य-फलं भवति। विद्या खलु अविद्याया भिन्नास्ति । अतस्तयोः फलमपि भिन्नं भिन्नमेवास्तीति स्वाभाविकमेव ।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

[यः] यो विद्वान् [विद्याम्] ज्ञानम् [अविद्याम्] कर्म [च] अपि [तत्] एतत् [उभयम्] द्वयं [सह] युगपत् [वेद] व्यवहर्त्तुं जानाति; आचरतीति भावः । स विद्वान् जनः [अविद्यया] उपरि पूर्वमन्त्रेषु प्रतिपादितया अविद्यया, कर्मणा इति यावत् [मृत्युम्] मरणदुःखभयं [तीर्त्वा] क्रान्त्वा-विनाश्य (विद्यया) उपरि पूर्वमन्त्रेषु प्रतिपादितया विद्यया, ज्ञानेन यथार्थदर्शनेन वेति भावः । (अमृतम्) नाशरहितम् आत्मस्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते) प्राप्नोति ।

अयं भावः—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इति 'कुर्वन्नेवेह' इति च मन्त्रयोः विहितां पद्धतिमनुसृत्य यः कर्म करोति, यथार्थज्ञानं च

बिभर्ति, स कर्मभिर्न लिप्यते । तस्मिन् को ऽपि मोहो न जायते, ततः स मृत्युभयात् मुच्यते । मृत्योर्मोचे सति यथार्थज्ञाने जाते पुरुषः परमात्मानं प्राप्नोति, आत्मस्वरूपे वा स्थितो भवति । अतः कर्मज्ञानयोः युगपत् सेवनमेव जनानां श्रेयसे ऽस्ति ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

(ये) ये विद्वांसः (असम्भूतिम्) अनुत्पन्नम् प्रकृतिनामकं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं कारणरूपं जडं वस्तु (उपासते) सेवन्ते, पूज्यमिव वा गणयन्ति ते जनाः (अन्धम्) घोरम् (तमः) अन्धकारं (प्रविशन्ति) प्राप्नुवन्ति । (उ) सत्यमिदं यत् (ये) ये जनाः (सम्भूत्याम्) कार्यरूपायां महदादिरूपेण परिणतायां सृष्टौ (रताः) निमग्नाः सन्ति, (इव) प्रतिभाति यत् (ते) ते जनाः (ततः) असम्भूतिरतजनेभ्यो ऽपि (भूयः) अधिकम् (तमः) अन्धकारं प्रविशन्ति । पक्षद्वयमन्धकारे–दुःखे पातयति । अनयोर्द्वयोः पक्षयोः कश्चिदपि एकल इव न सेवनीयः ॥

शंकरस्य मतेन असम्भूतिः कारणप्रकृतिः अव्याकृताख्या कामकर्मबीजभूता अदर्शनात्मिका, सम्भूतिश्च हिरण्यगर्भाख्यं कार्यब्रह्म स्तः ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

(सम्भवात्) संयोगजन्यात् कार्यात् जगतः (अन्यत्) अन्यत् भिन्नम् (एव) एव फलम् कार्यं वा (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः । (असम्भवात्)

अनुत्पन्नात् प्रकृत्याख्यात् कारणात् (अन्यत् एव) भिन्नम् एव फलम् कार्यं वा (आहुः) निर्दिशन्ति । (धीराणाम्) तेषां विदुषाम् (इति) पूर्वार्द्धे वर्णितं वचः (शुश्रुम) शृणुमः—आकर्णयामः, (ये) विद्वांसः (नः) अस्मान् (तत्) पूर्वोक्तं सत्यं तत्त्वं (विचचक्षिरे) कथितवन्तः ।

अयं भावः—विदुषां मतेन ब्रह्मप्रकृत्योरुपासनायां फलं भिन्नं भिन्नमेव भवतीति विद्वद्भिः कथितम् । अतः कस्यचिदपि एकलस्योपासना न श्रेयस्करी ।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

(यः) यो यथार्थज्ञानयुक्तः जनः (सम्भूतिम्) कार्यरूपां सृष्टिम् (च) चापि (विनाशम्) प्रलयकाले सर्वेषां नाशस्य हेतुभूतं प्रकृत्याख्यं कारणं तत्त्वम् (च) अपि (तत्) एतद् (उभयम्) द्वयोः समुदायम् (सह) समकालमेव (वेद) जानाति, अनुभवति, सेवते च, स विद्वान् (विनाशेन) कारणरूपेण जगता साधनभूतेन (मृत्युम्) मरणभयं (तीर्त्वा) आक्रम्य (सम्भूत्या) कारणरूपेण जगता साधनभूतेन (अमृतम्) मोक्षम् , आत्मस्वरूपे ऽवस्थानं परमात्मानं वा (अश्नुते) प्राप्नोति ।

उभयोः विनाशसम्भूत्योर्युगपद् ज्ञानं व्यवहारश्च मानवस्य श्रेयो विधातुं समर्थौ । अतः कार्यकारणरूपप्रकृतेः प्रकृतिब्रह्मणोः वा सहैव ज्ञानमर्जनीयम् ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

(सत्यस्य) यथार्थज्ञानस्य परमात्मनो ज्ञानस्य वा (मुखम्) स्वरूपं (हिरण्मयेन) सुवर्णसदृशेन, ज्योतिर्मयेन वा (पात्रेण) आवरणेन (अपिहितम्) प्रच्छन्नं-गुप्तं वर्तते। (पूषन्) हे सर्वपोषक परमात्मन्। (सत्यधर्माय) परमात्मनो ज्ञानस्य वा यथार्थस्वरूपस्य (दृष्टये) दर्शनाय-साक्षात्काराय (त्वम्) त्वं पूषा एव (तत्) ज्योतिर्मयं सत्यस्याच्छादकम् आवरणम् (अपावृणु) उद्घाटय-दूरीकुरु।

परमात्मा एव जनस्य अज्ञानं दूरीकृत्य सत्यं दर्शयितुं समर्थः, नान्यः। अतः स एव प्रार्थनीयः, सेवनीयश्च।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते
पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

(पूषन्) सर्वेषां पोषक। (एकर्षे) मुण्डकोपनिषदि ३/२/१० मन्त्रे एकर्षिशब्दो ऽग्नेः पर्यायः। अतः अग्ने-अग्निवत् तेजस्विन्; अथवा एकः एकाकी एव ऋषति गच्छति इति एकर्षिः। स सम्बोध्यते-हे एकर्षे एकाकिगमनशील; अथवा एक एकल ऋषे। (यम) सर्वेषां नियन्तः शासक इति वा। (सूर्य) सरति गच्छतीति सूर्यः। सरणशील। सूर्यः रश्मीन् प्राणान् च गृह्णाति, अतः रश्मिप्राणयोर्ग्रहीतः; उत्पादकः, प्रेरको वा। (प्राजापत्य) प्रजापते। अत्र स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। प्रजापालक। (रश्मीन्) सत्यस्यावरोधकस्य पात्रस्य किरणान् (व्यूह) दूरीकुरु (समूह) अस्मत्तः संहर। येन (ते) तव परमात्मनः (यत्) यदपि (तेजः) प्रकाशः (कल्याणतमं) परमहितकरं श्रेयस्करं वा (रूपम्) स्वरूपम् अस्ति

(ते) तव (तत्) मन्त्रेषु विद्वत्सु च प्रसिद्धं रूपं (पश्यामि) अवलोकयामि। (असौ) प्राणे (असौ) प्राणे अथवा, (असौ) सः (असौ) सः (यः) अदृष्टरूपः यः (पुरुषः) आत्मा। पुरि शरीरे शेते निवसतीति पुरुषः आत्मा। (सः) स आत्मा (अहम्) परमात्मा एव (अस्मि) अस्ति, नान्यः कश्चित्। वाक्सूक्ते गीतायां च 'अहम्' पदं परमात्मनः पर्यायपदत्वेन सर्वविदितम्। सूर्यपण्डितेन च 'अत सातत्यगमने' इति धातोरहम्पदं व्युत्पादितम्। 'असौ' इति पदं द्विः प्रयुक्तमस्ति। भाष्यकारैरयम् अदस्प्रातिपदिकस्य रूपमिति घोषितम्। यद्येवमभविष्यत्, तर्हि एकवारम् एव 'असौ' पदम् पठितमभविष्यत्। अतः नेदम् अदस्-रूपम्। सप्तम्येकवचने असुशब्दस्य एव रूपम्।

अयं भावः—सम्बोधनानुरूपगुणैर्युक्तः परमात्मा एव सत्यस्यावरकं दूरीकर्त्तुं समर्थः। यदा स कृपां विधाय तदावरकमपनेष्यति तदैव वयं तं द्रष्टुं समर्थाः भविष्यामः। स च परमात्मा सर्वत्र व्यापकः अस्ति।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥१७॥

(अथ) इदानीं मम (वायुः) शरीरस्थप्राणादिरूपो वायुः (अमृतम्) नाशरहितम् (अनिलम्) कारणरूपं वायुं प्राप्नोति, अर्थात् मम मृत्युर्भवति (इदम्) एतत् मया धार्यमाणं कर्मादिसाधनं (शरीरम्) पृथिव्यादिपञ्चभूतेभ्यो निर्मितो देहः (भस्मान्तम्) भस्म अन्ते यस्य तत्, अग्निदाहेन भस्म एव भविष्यति। अन्यत् किमपि न अवशेष्यति। एवमिदं शरीरं नाशमाप्स्यति। अतः तत्त्वज्ञो विद्वान् आत्मानमव-

बोधयति-(क्रतो) हे कर्मणां कर्तः मम जीवात्मन् (ओम्) ओम् नाम्ना प्रसिद्धं परमात्मानं (स्मर) चिन्तय (कृतम्) आत्मना कृतं कर्म (स्मर) चिन्तय। (क्रतो) हे कर्मकर्तः जीवात्मन् (स्मर) चिन्तय (कृतम्) कृतं कर्म (स्मर) चिन्तय। अथवा-हे (क्रतो) जीवात्मन् (स्मर) ॐ नाम परमात्मानं (स्मर) चिन्तय (कृतम्) कृतं कर्म च (स्मर) चिन्तय।

अयं भावः—मृत्यौ आगते शरीरमिदं नंक्ष्यति, भस्मावशेषं च स्थास्यति। अतः पुरुषः परमात्मानं सर्वदैव ध्यायन् सर्वेषु कालेषु स्वीकृतानि कर्माणि पर्यालोचयतु तेषां शुभाशुभं रूपं निश्चित्य आत्मशोधनं करोतु, शरीरस्य नश्वरत्वं चापि अवगच्छतु॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१६॥

तत्त्वद्रष्टा विद्वान इदानीं परमेश्वरं प्रार्थयति—

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर, (देव) हे दिव्यस्वरूप, (विश्वानि) अस्माकं सर्वाणि (वयुनानि) शुभानि अशुभानि च कर्माणि (ज्ञानं च) (विद्वान्) जानन् त्वम् (अस्मान्) शरीरधारिणः इमान् प्रार्थयितॄन् जीवान् (राये) मोक्षरूपधनाय वा कर्मफलभोगरूपधनाय वा, धनादिजन्यसुखाय वा (सुपथा) शोभनेन मार्गेण (नय) प्रापय। (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (जुहुराणम्) कुटिलम् (एनः) पापं (युयोधि) विनाशय। एतदर्थं त्वां प्रसादयितुं वयं (ते) तुभ्यं परमात्मने (भूयिष्ठाम्) बहुतमां (नमउक्तिम्) नमस्कारयुक्तां स्तुतिं (विधेम) परिचरेम, उच्चारयन्तः त्वत् सेवातत्पराः स्याम एवंविधां कृपां कुरु। शंकरस्य मतेन तु वयं परिचर्यायामसमर्थाः, अतः केवलं नमस्कारवचनं ब्रूमः,

दयानन्दमतेन तु यतो वयं तुभ्यं नमोवचनं (सत्कारपुरःसरं वचनं) ब्रूमः, अतस्त्वमस्माकं प्रार्थनामङ्गीकुरु इत्यभिप्रायः।

अयं भावः—परमात्मा जीवानां सर्वाणि कर्माणि जानाति। स एव तान् पापाचरणात् मोचयित्वा शुद्धान् विदधाति, मोक्षपदं च प्रापयति। अतः सर्वे जनाः तमेव स्मरेयुः, नमस्कुर्युः, प्रार्थयेयुश्च।

इतीशोपनिषदः भावप्रकाशिका सुधीरिणी टीका समाप्ता।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः। ॐ

विज्ञप्ति

भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला द्वारा प्रकाशित तथा डा०
सुधीर कुमार गुप्त की रचनाएं प्रामाणिक, विश्वस-
नीय, ज्ञानवर्धक और विषय का सर्वांगीण
बोध कराने वाली होती हैं।

★

शुकनासोपदेश, विश्रुतचरितम्

(सम्पूर्ण) और

द-च-पू-पी. प्रथम उच्छ्‌वास

तो आप देख ही चुके हैं। वेदभारती
आप के हाथ में है।

★

ऋक्सूक्तानि, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास

और

स्वप्नवासवदत्त का सरल अध्ययन

भी आप एक बार अवश्य देखें।

वेदभारती

शब्दानुक्रमणिका

[पदों के आगे पहले पाठसंख्या और उस के आगे संदर्भसंख्या दी गई है ।]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ॐ

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्ति-
र्ब्रह्म शांतिः सर्वं शांतिः शांतिरेव
शांतिः सा मा शांतिरेधि ॥ ॐ

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥ ॐ

भारती मन्दिर अनुसंधानशाला द्वारा प्रकाशित

डा० सुधीर कुमार गुप्त की अन्य रचनाएँ

१. दशकुमारचरिते पूर्वपीठिकायां प्रथम उच्छ्वासः अजिल्द ३-८

२. विश्रुतचरितम् (सम्पूर्ण) अजिल्द ४-००
(ये दोनों रचनाएं एक भूमिका के साथ एक
बन्धन में) सजिल्द ७-८०

३. कादम्बर्यां शुकनासोपदेशः, बाण अजिल्द ४-००

४. संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास सजिल्द ४-५०

५. ऋग्वेद का परिचय १-५०

६. ऋक्सूक्तानि (इस में संख्या ५ भी सम्मिलित है) ७-००
(इस के विभिन्न भाग अलग-अलग भी मिलते हैं।)

७. स्वप्नवासवदत्त का सरल अध्ययन ३-००

८. Essence of College Grammar Translation
& Unseen. 2-50

९. संक्षिप्त दशकुमारचरित (पू० पी० १-३; उ० पी०) ६-५०

१०. भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय (प्रेस में) लगभग १-५०

भारती मन्दिर के प्रकाशन उत्तम, प्रामाणिक, खोजपूर्ण और संग्रहणीय होते हैं। उस के प्रकाशनों को लेना अपने साहित्य और संस्कृति के अनुसन्धान, अध्ययन और प्रसार में विशेष सहयोग देना और यज्ञमय कार्य है। इस की समस्त आय अपने लक्ष्य-संस्कृत और सस्कृति विषयक अनुसन्धान कर उसे प्रकाशित करना-की पूर्ति में ही लगाई जाती है। मन्दिर के शोध प्रकाशनों का विवरण शोधक लिख कर मन्दिर से मंगा सकते हैं।